अस्तित्ववाद और मानववाद

ज्यां पॉल सार्त्र

अनुवादक

जवरीमल्ल पारख

अस्तित्ववाद और मानववाद

ज्यां पॉल सार्त्र

अनुवादक

जवरीमल्ल पारख

प्रकाशन संस्थान

नई दिल्ली 110002

हिंदी अनुवाद की भूमिका

बीसवीं शताब्दी में पूंजीवादी विश्व के बढ़ते संकट ने जिन दो महायुद्धों की सृष्टि की, उसने यूरोप के जन-मानस को बहुत गहरे तक आंदोलित किया। दो महायुद्धों की विभीषिका विशेषतः दूसरे महायुद्ध ने यूरोप को पूरी तरह झकझोर दिया और मनुष्य के सामने अस्तित्व का प्रश्न अन्य सभी प्रश्नों से अधिक महत्वपूर्ण बन गया। महायुद्ध की भयानकता के अनुभव से गुजरते हुए वहां का दिशाहारा बुद्धिजीवी जिनकी प्रवृत्ति इस संकट के वस्तुगत रूपों की ओर कम तथा उसके भावात्मक और आत्मनिष्ठ रूपों की ओर आंधेक थी, वे इस संकट के कारणों को भी भावात्मक एवं आत्मनिष्ठ रूपों में खोजने लगे। ऐसे में अस्तित्ववाद उनको आत्मगत भावनाआ का प्रतिनिधित्व करने वाला चिंतन लगा। अस्तित्ववाद, पूंजीवाद के उदय के साथ उत्पन्न नवीन सामाजिक समस्याओं को समझने का एक आत्मगत प्रयास था जो पूंजीवाद के संकट को उसके वस्तुगत रूप में या समाज के वर्गीय आधारों में न खोजकर ऐसे कारणों में खोजता था जो वस्तुतः इस संकट के कारण न थे बल्कि इस व्यवस्था की अभिव्यक्ति थे, जैसे, औद्योगीकरण, मशीनीकरण, वढ़ती जनसंख्या, संववाद, महायुद्धों की विभीपिका आदि। यद्यपि भारत को महायुद्धों के उस भयावह दौर से नहीं गुजरना पड़ा, परंतु विश्व-व्यापी पूंजीवादी संकट के बढ़ते दबाव का असर यहां के जीवन पर भी पड़ा। कुछ तो यहां के संकट ने और कुछ पश्चिम के प्रभाव ने, मध्यवर्गीय व्यक्तिवादी लेखकों को अस्तित्ववाद की ओर प्रेरित किया।

अस्तित्ववादी दर्शन की शुरुआत का श्रेय प्रसिद्ध डेनीश दार्शनिक सॉरेन कीर्केगार्द को जाता है। कीर्केगार्द दुनिया के पीछे किसी नियोजित व्यवस्था का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता। उसने वस्तुवादी दृष्टि को अस्वीकार करते हुए घोषणा की कि "सत्य केवल आत्मपरक है"। इसीलिए वह मनुष्य के बाह्य वस्तुपरक संसार की बजाय अपने चिंतन का विषय ऐसे मनुष्य को बनाता है जो वासनाओं और चिंताओं से ग्रस्त है। उसने व्यक्ति को आनंद—चिरस्थायी आनंद—के लिए इंद्रिय-लोलुप होने वाला प्राणी वताया। इसी संदर्भ मे उसने संत्रास, चिंता, भय, कुंठा आदि भावनाओं पर विचार किया और इसे आधुनिक मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति बताया।

जर्मन दार्शनिक नीत्शे मनुष्य को स्वभावतः क्रूर, दुस्साहसी तथा दंभी पशु मानता

था। साधारण मानव के प्रति नीत्शे उदार न था। उसने डार्विन के विकासवादी सिद्धांत को गलत परिप्रेक्ष्य में रखकर ''जातीय श्रेष्ठता'' और ''प्रभुत्व की इच्छा'' के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इन्हीं से ''अतिमानव'' की परिकल्पना का जन्म हुआ। नीत्शे के ''अतिमानव'' की परिकल्पना से सबसे अधिक प्रभावित हुआ अभिजात वर्ग। यह वह वर्ग था जो शेष मानवता को तुच्छ और हीन मानता था और अपने को विशिष्ट मानकर मानव जाति की उपलब्धियों का अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहता था। वह जनता को भीड़ मानता था और उसकी पूर्ण उपेक्षा करता था। उसकी यह धारणा थी कि जनता विशिष्ट अभिजात व्यक्तियों द्वारा शासित होने के लिए ही है। इस प्रकार अतिमानव की उसकी परिकल्पना उच्च वर्ग (या बूर्जुआ) को विशिष्ट और उसके शोषण को औचित्य प्रदान कर देती है। नीत्शे मानव जाति के विकास में नहीं, विघटन में विश्वास करता था। उसके यहां अतीत, वर्तमान और भविष्य अलग-अलग कालखंड नहीं बल्कि काल के सतत प्रवाह थे। उसके अनुसार, काल के आवर्तन का जो क्रम निरंतर चलता है उसमें बीता हुआ और आने वाला काल दोनों मिलते और अलग होते रहते हैं। प्रत्येक क्षण एक ही साथ समान भी है और भिन्न भी, लेकिन है वह एक विचित्र क्षण। नीत्शे के अनुसार, जीवन का स्वरूप कोई निश्चित विधिवत संकल्प नहीं है बल्कि वह तो मृत्यु का चरम निषेध है। मृत्यु किसी भी क्षण आ सकती है क्योंकि वह तो मानवीय स्थिति की संभावना है और समय-समय पर अथवा प्रतिक्षण उस स्थिति के अनुरूप बदलती रहती है। (द्रष्टव्य : योगेन्द्र शाही ''अस्तित्वाद : कीर्केगार्द से कामू तक)

कार्ल यास्पर्स ने समकालीन तकनीकी सभ्यता को सामाजिक रोग माना है। उसके अनुसार, विचार की वस्तुपरक और यांत्रिक पद्धति विश्व पर इतनी गहरी हावी हो गई है कि उसकी स्वेच्छा शक्ति उत्तरोत्तर समाप्त होती जा रही है। मनुष्य के चिंतन का तर्कवाद के आगे आत्मसमर्पण और उसकी तकनीकी कुशलता का परिणाम यह हुआ है कि वह यह अनुभव करते हुए अपने को सांत्वना देता है कि वह प्रगति कर रहा है, किंतु उसके आंतरिक जीवन की मूलभूत शक्तियों को यदि नगण्य और अस्वीकृत कर दिया जाए तो वे ही शक्तियां विनाश का प्रबल कारण बन जाती हैं।

अस्तित्वादी चिंतन को दिशा देने में फ्योदोर दोस्तोव्स्की, फ्रेंज काफ़्का, ज्यां पाल सार्त्र तथा अल्बेयर कामू जैसे साहित्यकारों का योगदान भी कम नहीं है। दोस्तोव्स्की ने यूरोप के तत्कालीन मध्य वर्ग के खोखलेपन को उजागर किया तथा इसी से प्रेरित होकर उसने निःशेषवादी पात्रों की सृष्टि की। दोस्तोव्स्की से भिन्न काफ़्का का

रचना-संसार एक निराश और हताश तथा तनावों से भरे दिशाहारा कलाकार का रचना-संसार है। इसका कारण उसका यह विश्वास था कि कहीं भी अशुभ-शक्तियों का प्रतिरोध नहीं हो रहा है। समाज उसे सिद्धांतविहीन लगा। काफ़्का को मानव अस्तित्व की अर्थहीनता जहां उसे एक ओर अकेला और एकाकी बनाती है तो दूसरी ओर "एब्सर्ड" की सृष्टि करती है। काफ़्का की ही तरह अल्बेयर कामू के साहित्य में नैतिक हताशा तथा निराशावाद का स्वर प्रमुख है यद्यपि उसके साहित्य में अपने युग की चिंताओ के प्रति जागरूकता भी दिखाई देती है। आरंभ से ही कामू अपने साहित्य में अस्तित्व संबंधी प्रश्नों से जूझता रहा। कामू और काफ़्का दोनों ही में जीवन और जगत् के प्रति एब्सर्ड धारणा ने अजनबीपन की भावना को बल दिया। दुनिया में कोई अर्थ नहीं है, आदमी अकेला आया है और अकेला ही चला जाएगा। ऐसे में वह अपने को हर कहीं मिसफिट या आउट साइडर महसूस करता है।

कामू और काफ़्का के इस आत्मनिष्ठ सोच को ही ज्यां पॉल सार्त्र ने दार्शनिक जामा पहनाया है। सार्त्र मानते हैं कि हमारे कर्मों को दिशा देने वाला कोई बाह्य मूल्य या आदर्श नहीं है बल्कि वह हमारी संवेदना ही है जो हमारे निर्णय का आधार वनती है। लेकिन इस संवेदना को मापने का कोई वस्तुगत आधार नहीं होता। उसके अनुसार हम अपने विवेक के अतिरिक्त किसी व्यक्ति, दल, देश या विचारधारा पर विश्वास नहीं कर सकते। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम निष्क्रियता को प्रोत्साहित कर रहे हैं बल्कि हम उस सच्ची आत्मपरक यथार्थता को प्रस्तुत कर रहे हैं जिसके आधार पर ही हम वर्तमान में कर्म की ओर प्रवृत्त होते हैं। सार्त्र भविष्य की किसी नियत दिशा में विश्वास नहीं करते क्योंकि उसका मानना है कि कल का मनुष्य अपने युग का निर्माण किस तरह करेगा, यह आज नहीं कहा जा सकता।

सार्त्र ने अस्तित्ववाद को एक व्यवस्थित रूप दिया, परंतु वे कार.ांतर में उससे विमुख हो गए। उन्होंने मार्क्सवाद के प्रति अपनी पक्षधरता की घोषणा की और लेखकों एवं कलाकारों के लिए प्रतिबद्धता की मांग की। वे अपने समय की समस्याओं के प्रति कभी उदासीन नहीं रहे तथा अपने राजनीतिक विचारों में उनका झुकाव सदैव वामपंथ की ओर ही रहा। हिंदी के व्यक्तिवादी रचनाकारों ने सार्त्र के इन पक्षों की प्रायः उपेक्षा ही की।

नई कविता के आधुनिकतावादी भावबोध से जुड़े व्यक्तिवादी रचनाकारों ने सांस्कृतिक संकट और व्यक्ति की स्वतंत्रता के नारे केवल शीतयुद्ध के प्रभाव में आकर ही नहीं दिए थे, बल्कि इसके पीछे अस्तित्ववादी चिंतन का प्रभाव भी था। इन रचनाकारों ने औद्योगिक सभ्यता मानकर पूंजीवाद और समाजवाद, दोनों का विरोध

किया।[1] चूंकि इन दोनों सभ्यताओं के विकास के मूल में वैज्ञानिक उन्नति और तकनीकी विकास निहित है इसलिए इन लेखकों ने विज्ञान का भी विरोध किया। विज्ञान और वैज्ञानिक उन्नति से मनुष्य मध्ययुगीन अंधविश्वासों, कुंठाओं और अविवेकपूर्ण धारणाओं से मुक्त हुआ है तथा उसने स्वातंत्र्य, समानता और बंधुत्व के नए मूल्य भी स्थापित किए। लेकिन नए कवि के अनुसार, "इस सारे अभियान का जो केंद्र बिंदु था अर्थात् मनुष्य, वह एक विचित्र शून्यता में परिणत होता गया। उसके लिए मूल्य निर्धारण की कसौटी क्या ? उसके जीने का लक्ष्य क्या ? उसकी यह विकास-यात्रा हो किसलिए रही है ? विज्ञान के पास इन सवालों का कोई समाधान नहीं था। अभी तक जो तत्व मनुष्य को पशुओं से पृथक् सिद्ध करते थे, यानी उसकी विवेकपूर्ण संकल्प शक्ति और उसकी नैतिक चेतना उन दोनों को विज्ञान ने अमान्य सिद्ध किया। परिणाम यह था कि हम सारे मूल्यों का अवमूल्यन पाते हैं। एक विराट अराजकता, एक घातक अंधकारमय शून्य। मूल्यों के इस विघटन ने कैंसर की तरह मानवीयता को अंदर से खोखला बनाना शुरु किया।"[2] धर्मवीर भारती के अनुसार विज्ञान से इस संकट का समाधान मांगना अनपेक्षित मांग है। विज्ञान दृष्टि और पद्धति की प्रस्तावना करता है। मानवीय तथ्यों को उसकी सापेक्षता में रखना, व्याख्या करना और नए मूल्यों का सृजन, चिंतक का काम है, वैज्ञानिक का नहीं।

औद्योगिक सभ्यता, वैज्ञानिक उन्नति और मशीन के उपयोग में ही इन व्यक्तिवादी रचनाकारों को संस्कृति का संकट दिखाई देता है। डॉ. रघुवंश के अनुसार, यह अंधजड़ता का युग है जिसमें समस्त सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा आर्थिक मान्यताएं झूठी पड़ गई हैं। समाज की जड़ निष्क्रियता ने हमारे समस्त आदर्शों को खोखला बना दिया है। यह समाज-व्यापी कुंठा, निराशा, अवसाद तथा अंध-आस्था का परिणाम है कि हम इन सबके बावजूद व्यक्तिगत स्वार्थों, बेईमानी, घूसखोरी, चोर-बाजारी, अकर्मण्यता से अपने को बचाने में असमर्थ हैं।[3] गिरिजा कुमार माथुर के अनुसार, प्राविधीय गति और यंत्र-सत्ता के आतंक के कारण जहां एक ओर आदमी को अपनी निरर्थकता का एहसास हुआ तो दूसरी ओर उसमें तीव्र भय और त्रास की भावना भी पैदा हुई। यही नहीं, इसकी एक और परिणति बर्बर भोगवाद में हुई। यही कारण है कि अज्ञेय भी आधुनिक मानव को यौन वर्जनाओं का पुंज मानते हैं। श्री माथुर के अनुसार, निरर्थकता की प्रतीति से ही अस्तित्वहीनता, खोखलापन, अकेलेपन की विवशता, मूल्यगत ढांचे की निस्सारता और मिथ्या प्रमाणित होकर विकृत हो जाने का बोध उत्पन्न हुआ है। दूसरी ओर, भय और त्रास की भावना ने आत्मक्षोभ, नपुंसक आक्रोश, बंध्या खीझ, दिशाहीन अकुलाहट, ऊब और झुंझलाहट

आदि को जन्म दिया है।[4]

व्यक्तिवादी रचनाकारों ने सभ्यता और संस्कृति के संकट की जो कल्पना की, वह संकट मनुष्य अस्तित्व के संकट में परिणत हो गया और तब, नई कविता की जो प्रमुख भावभूमि कल्पित की गई वह थी सर्वांगीण मानवीय विघटन का मुकाबला करने की। डॉ. भारती के अनुसार यह तभी संभव है जबकि मनुष्य की आंतरिकता को पुनः प्रतिष्ठित किया जाए। डॉ. जगदीश गुप्त इसे नए मनुष्य की प्रतिष्ठा से जोड़ते हैं। नए कवियों के अनुसार, इस नए मनुष्य की प्रतिष्ठा भी इसलिए आवश्यक हुई क्योंकि अब तक इतिहास ने जिस मनुष्य को प्रतिष्ठित किया वह या तो ''अतिमानव'' था जो कभी ईश्वर के नाम पर, कभी किसी आदर्श के नाम पर शेष जनता को दास या समूह मानता रहा है। साम्यवाद ने तो मानव को भीड़ में बदलकर निष्क्रिय यंत्र ही बना दिया है।[5]

जनता को अविवेकी भीड़ समझने के बावजूद नया मनुष्य कैसा हो, इसके बारे में व्यक्तिवादी रचनाकार एकमत नहीं हैं। इतना तो निश्चित है कि वह न तो अतिमानव होगा, न महामानव, न ही जनता, समूह या सर्वहारा। लक्ष्मीकांत वर्मा ने इस नये मनुष्य को ''लघु मानव'' की संज्ञा दी। उनके अनुसार, ''लघु मानव यह जानता है कि जो भी है उसे विवेक के साथ भोग लेना ही भविष्य की कल्पना को दृढ़ कर सकता है इसलिए न तो उसे अतीत की चिंता है और न भविष्य का फोबिया। वह जानता है कि यदि वर्तमान को एक जागरूक एवं व्यक्तिनिष्ठ रूप में हमने भोग लिया है तो भविष्य वही होगा जो हम अपनी जागरूकता से वर्तमान को भोगकर बनाएंगे।[6] जिस वर्तमान को भोगने की बात लक्ष्मीकांत वर्मा कहते हैं उसे व्यर्थ, अर्थहीन और एब्सर्ड भी मानते हैं। जो व्यर्थ, अर्थहीन और एब्सर्ड हो ऐसे वर्तमान को मात्र भोगने से जो भविष्य होगा, वह कैसे सार्थक होगा ? लघु मानव की उक्त अवधारणा को सभी व्यक्तिवादी लेखकों ने भी पूरी तरह स्वीकार नहीं किया। जगदीश गुप्त ने कहा कि ''पहले अपने को लघु कहना, फिर लघुता की महानता प्रदर्शित करना, प्रकारांतर से अपने को महान कहना है।[7] श्री विजयदेव नारायण साही लघु मानव के विरुद्ध सहज मनुष्य को खड़ा करते हैं और कहते हैं कि मनुष्य की हर परिभाषा मूलतः ''सहज मनुष्य'' की परिभाषा है।[8] मनुष्य की इन विभिन्न परिभाषाओं ने अंततः मनुष्य के रूप को भ्रमित ही किया। वस्तुतः मनुष्य की इन कथित परिभाषाओं से, गिरिजा कुमार माथुर के शब्दों में वह लगातार ''अमूर्त'' एवं ''मायावी'' होता गया।

नई कविता के दौरान व्यक्ति-स्वातंत्र्य की तरह जिस शब्द को सबसे ज्यादा उछाला गया वह है—अनुभूति। अनुभूति की प्रामाणिकता, अद्वितीय अनुभूति, कलानुभूति,

कॉव्यनुभूति, रसानुभूति, सौंदर्यानुभूति, सह-अनुभूति न जाने किन-किन रूपों में अनुभूति की चर्चा की गई। नई कविता ने अनुभूति के महत्व को तरह-तरह से प्रतिपादित किया है। इनमें महत्वपूर्ण है—क्षण अनुभव और अनुभव की अद्वितीयता के सिद्धांत। अज्ञेय के अनुसार, "क्षण का आग्रह क्षणिकता का आग्रह नहीं है, अनुभूति की प्रामाणिकता का आग्रह है और अनुभूति को अनुभावक से अलग नहीं किया जा सकता। अनुभूति अद्वितीय है क्योंकि कोई दूसरे की अनुभूति नहीं भोग सकता। सहानुभूति में "सह" विशेषण में ही इसकी स्वीकृति है और कवि साधारणीकरण द्वारा जिस अनुभूति का प्रेषण करता है वह काव्यानुभूति जीवन की अनुभूति से अलग होती है।"[9] क्षण के प्रति यह आग्रह उस धारणा का परिणाम है जिसमें इतिहास-बोध को अस्वीकारा जाता है। इतिहास-बोध काल बोध हो जाता है और काल-बोध क्षण-बोध हो ज़ाता है। लक्ष्मीकांत वर्मा के अनुसार, "इतिहास-बोध एक ठहराव है और परंपरा उस ठहराव को वहन करती है। प्रवहमान क्षण का बोध एक गति है और मनुष्य के चेतन प्रबुद्ध साहचर्य की भावना उस गतिशीलता को वहन करती है।"[10] इस प्रकार नए कवियों के लिए क्षण-क्षण की अनुभूति और उस अनुभूति की अद्वितीयता का अनुभव ही काव्य-सर्जन का आधार वना।

नई कविता के कुछ कवियों के काव्य पर अस्तित्ववाद का असर सर्वाधिक है। अज्ञेय, धर्मवीर भारती, कुंवर नारायण इनमें प्रमुख हैं। अज्ञेय की कविताओं से ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें अस्तित्ववादी प्रवृत्तियों को व्यक्त करने के लिए लगातार मंथन चलता रहा है, लेकिन यह मंथन अस्तित्वादी प्रवृत्तियों को सही परिप्रेक्ष्य में समझने का उतना नहीं है जितना कि उन्हें नए-नए रूपों, प्रतीकों और बिम्बों के माध्यम से व्यक्त करने का है। अज्ञेय में आत्मपरकता का आग्रह बहुत अधिक है। समाज व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण करता है, लेकिन व्यक्ति का भी समाज के प्रति कोई कर्तव्य है, इसे वह नहीं मानते। इसी भाव क़ो उन्होंने "नदी के द्वीप", "उधार" आदि कविताओं में व्यक्त किया है। अज्ञेय की कविता में ममेतर के प्रति यह भाव अस्तित्व के प्रति उनके सोच में निहित है। जीवन को वह मृत्यु के बोध से अलग कर नहीं देख पाते। जीवन काल के प्रवाह में एक क्षण की तरह है, उस एक क्षण में व्यक्ति समुद्र की बूंद की तरह उछल कर पुनः समुद्र में मिल जाता है। मृत्यु का बोध अज्ञेय में तीक्ष्ण जिजीविषा के रूप में भी प्रकट हुआ है। जीने की इच्छा और मृत्यु का भय अज्ञेय ने कई-कई रूपों में प्रकट किया है। 'देखती है दीठ' कविता में जीवन में गहरी डूबी प्रिय वदन अनुरक्त वधु के उल्लास के बीच कवि की 'दीठ' मृत्यु के भय के कीट को देखती है। एक अन्य कविता 'जीवन' में उन्होंने

जीवन की नश्वरता के भाव को व्यक्त करते हुए कहा है, ''यहीं पर/सब हंसी/सब गान होगा शेष/यहां से एक जिज्ञासा/अनुत्तर जगेगी अनिमेष।'' मृत्यु के सत्य को गहराई तक आत्मसात् करने के कारण जीवन के प्रति एक निर्लिप्त भोग का भाव भर गया है। वस्तुएं, जब तक जीवन है तब तक भोगने के लिए हैं ''फूल को प्यार करो पर झरे तो झर जाने दो'' । 'सोन मछली' कविता में भी अज्ञेय ने इसी जीवन-दर्शन को अभिव्यक्त किया है।

मृत्यु के आलोक में जीवन का सच्चा ज्ञान हासिल किया जा सकता है, कुंवर नारायण के खंड-काव्य 'आत्मजयी' का यही मूल कथ्य है। 'आत्मजयी' की भूमिका में वे लिखते हैं ''नचिकेता की चिंता भी अमर जीवन की चिंता है।'' उनका अमर जीवन से तात्पर्य अमर जीवन मूल्यों से है, ऐसे जीवन मूल्यों से जो व्यक्ति और वर्तमान का अतिक्रमण करके सार्वजनीन और सार्वकालिक वन जाते हैं। निश्चय ही ऐसे शाश्वत जीवन-मूल्यों को छोटे-मोटे अनुभवों के प्रकाश में तो नहीं पाया जा सकता। मृत्यु का साक्षात् अनुभव ही इन्हें प्रकाशित कर सकता है। नचिकेता की कथा इसी मृत्यु (या आत्महत्या) के अनुभव का अवसर प्रदान करती है। कुंवरनारायण यह नहीं मानते कि मृत्यु का चिंतन भी जीवन के लिए उसी प्रकार घातक होगा जैसे स्वयं मृत्यु। वह मानते हैं कि मृत्यु से साक्षात्कार के क्षणों से गुजरने के बाद व्यक्ति जीवन की ओर पुनः लौटता है। लेकिन अव वह अस्थायी मूल्यों के लिए नहीं बल्कि जीवन की अमरता के लिए जीता है। ''तुझको मर्त्य नहीं, अमर्त्य का तोष चाहिए।'' लेकिन प्रश्न यह है कि जिन शाश्वत सत्यों को यहां गिनाया गया है उनमें से क्या किसी एक को भी शाश्वत कहा जा सकता है। ब्रह्म, ईश्वर, निर्वाण क्या ये सभी आज अशाश्वत और भ्रामक साबित नहीं हो चुके हैं ? 'आत्मजयी' में मृत्यु के क्षणों से गुजरने के बाद नचिकेता कौन से शाश्वत सत्यों (?) के रत्न हासिल कर पाता है जो पहले से हासिल न किए जा चुके हैं।

कुंवरनारायण से भिन्न डा. धर्मवीर भारती के यहां मृत्यु की दार्शनिक समस्या नहीं आधुनिक सभ्यता के विनाश की समस्या प्रमुखता से उभर कर आती है। 'अंधा युग' का कथ्य यही है कि यह संसार विनाश की ओर तेजी से अग्रसर है और इसे न ईश्वर, न वैज्ञानिक विचारधारा, न आदर्श, न आस्था और न व्यापक सामाजिक जीवन मूल्य वचा सकते हैं। यद्यपि कवि का दावा है, ''पर एक नशा होता है—अंधकार के गरजते महासागर की चुनौती को स्वीकार करने का, पर्वताकार लहरों से खाली हाथ जूझने का, अनमापी गहराइयों में उतरते जाने का और फिर अपने को सारे खतरों में डालकर आस्था के, प्रकाश के, सत्य के, मर्यादा के कुछ कणों को बटोर

कर, बचाकर धरातल तक ले आने का।" लेकिन 'अंधायुग' के अध्ययन से यह नहीं लगता कि कवि को आस्था, प्रकाश, सत्य और मर्यादा के कण मिले हैं। इसका प्रमाण है 'अंधायुग' के पात्रों की अंतिम परिणति। युयुत्सु जो सत्य के पक्ष में लड़ा था, अंत में "आत्मघाती अंध" रह जाता है, अश्वत्थामा "अमानुषिक" और संजय "निष्क्रिय अपंगु"। तब भविष्य को कौन बचाएगा क्योंकि कवि ने साधारण जन की नियति तो पहले से तय कर दी है। इस प्रकार, 'अंधायुग' भी 'आत्मजयी' की तरह अनुत्तरित रह जाता है, कवि के दावे के बावजूद। सामाजिक प्रश्नों को सामाजिकता से काटकर निजी स्तर पर हल कर लेने का दावा एक छलावा ही है। अस्तित्ववाद इस छलावे को एक गंभीर दार्शनिक मुद्रा ही देता है, इससे अधिक कुछ नहीं।

धर्मवीर भारती की कठिनाई यह है कि वह सत्य और मूल्यों की खोज के प्रश्न को व्यक्ति के साहसिक अभियान के रूप में पेश करते हैं जिसमें उसकी पराजय भी पहले से निश्चित है। इस पराजय भावना से उसका काव्य नायक अपनी यात्रा शुरू करता है और सत्य की खोज के वजाय पराजय-भावना ही व्यक्त करता रहता है। इसे ही कवि सत्य की खोज मान लेता है। इस पराजय-भावना के पीछे कवि पर सामूहिकता का मानसिक दवाव है। सामूहिक अभियानों तथा सामाजिक दर्शनों के प्रति और जनता के प्रति भी उनमें घृणा की हद तक विरक्ति भरी हुई है।

डॉ. धर्मवीर भारती के खंडकाव्य 'कनुप्रिया' में अस्तित्ववादी प्रवृत्ति का भिन्न रूप प्रकट हुआ है। अंधायुग' में जो दर्शन निषेधात्मक रूप में व्यक्त हुआ है। उसका विधेयात्मक रूप इसमें विद्यमान है। अतीत को भुलाकर और भविष्य से कटकर वर्तमान को अधिकाधिक भोगना ही यह जीवन-दर्शन है। राधा द्वारा कृष्ण की महाभारतकालीन भूमिका को नकारने के पीछे यही चिंतन काम करता रहा है। भोग की तन्मयता के क्षणों में राधा का सारी सृष्टि को अपने में समाहित देखना तथा इस मनःस्थिति में कर्म, धर्म, निर्णय, दायित्व का शब्द-मात्र लगना स्वाभाविक है। इस प्रकार 'अंधायुग' का संकट भोग की तन्मयता में डूब जाता है, पीछे केवल भोग की स्मृतियां रही जाती हैं।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, लक्ष्मीकांत वर्मा, श्रीकांत वर्मा आदि कवियों में अस्तित्ववाद का प्रभाव भावात्मक स्तर पर ही अधिक है। इन कवियों में व्यक्ति की आत्मपरकता पर बल, सामूहिकता का विरोध, जनता को भीड़ समझना तथा जीवन के प्रति विकृत मनोवृत्ति का भाव विद्यमान है। सर्वेश्वर जिनमें आरंभ में व्यक्तिवादी प्रवृत्तियां बहुत हावी नहीं थीं, लेकिन परवर्ती काल में अस्तित्ववाद और शीतयुद्ध

के प्रभाव में जनता को भीड़ समझने (बाजार में एक भीड़ के बीच मरने की अपेक्षा एकांत में किसी सूने वृक्ष के नीचे गिरकर सूख जाना बेहतर है") और अकेलेपन के प्रति अतिरिक्त मोह के कारण उसी बिंदु पर पहुंच जाते हैं जहां अन्य नई कवितावादी पहुंचे हैं अर्थात् अपने को एक मृत समाज में देखना, समाज के विकास और उज्ज्वल भविष्य पर विश्वास का उठ जाना। लक्ष्मीकांत वर्मा और श्रीकांत वर्मा में यह भावना और भी प्रबल है। आरंभिक नए कवियों में इस दुनिया के प्रति असंतोष का भाव था : कुंवरनारायण को प्राचीन रूढ़ियों से, डॉ. भारती को पुराने जीवन मूल्यों से, नरेश मेहता को व्यक्ति के अधूरेपन से। लेकिन श्रीकांत वर्मा को न किसी चीज से संतोष है, न असंतोष। उनकी स्थिति तो 'अंधायुग' के प्रहरियों-सी है जिनके लिए आस्था का संकट है ही नहीं क्योंकि उनकी कोई आस्था थी ही नहीं। लेकिन प्रहरियों से भी एक कदम आगे श्रीकांत वर्मा के लिए तो इस दुनिया का भी अस्तित्व नहीं है और अस्तित्वहीन दुनिया में अपने अस्तित्व की पहचान तो एक मुर्दे के रूप मे ही हो सकती है—

मैं एक अदृश्य दुनिया मे जी रहा हूं
और अपने को टटोल कह सकता हूं
दावे के साथ
मैं एक साथ ही मुर्दा भी हूं और ऊदबिलाव भी।
मैं एक बासी दुनिया की मिट्टी में
दबा हुआ अपने को खोद रहा हूं।

नई कविता की अस्तित्ववादी मनोवृत्ति की यह स्वाभाविक परिणति थी। नई कविता में जिस तरह अस्तित्ववाद का प्रभाव नजर आता है वैसा प्रभाव हालांकि कथा साहित्य में व्यक्त नहीं हुआ है, फिर भी अज्ञेय के उपन्यास 'नदी के द्वीप' और 'अपने-अपने अजनबी' के संदर्भ में अस्तित्ववादी प्रभाव की चर्चा होती रही है। कुछ हद तक ऐसा प्रभाव निर्मल वर्मा, कृष्ण बलदेव वैद, श्रीकांत वर्मा के कथा साहित्य में भी देखा जा सकता है। खास बात यह है कि प्रायः उपर्युक्त लेखकों की रचनाओं में व्यक्त संसार केवल शहरी बौद्धिक मध्य वर्ग तक ही सीमित है और उनमें एक ओर जीवन के प्रति निराशा और ऊब का भाव व्यक्त हुआ है तो दूसरी ओर एक तरह की आत्मग्रस्त भोगवादी प्रवृत्ति भी नजर आती है। छठे-सातवें दशक तक यह असर हिंदी साहित्य पर बना रहा परंतु सातवें दशक के उत्तरार्द्ध में उभरे नए प्रगतिशील जनवादी आंदोलन ने काफी हद तक इन प्रवृत्तियों को रोकने में कामयाबी हासिल की।

लेकिन इस सदी के इस आखिरी दशक में एक बार फिर इस तरह की प्रवृत्तियां सिर उठा रही हैं। इस बार यह प्रवृत्ति "उत्तर आधुनिकता" के नए वेश में सामने आई है। विशेष बात जो ध्यान देने की है कि फिर इस सोच के केंद्र में वही व्यक्तिवादी मध्यवर्गीय रूग्ण मानसिकता है जो पचास के दशक में उभरी थी और जिसने अस्तित्ववाद का सहारा लिया था। एक बार फिर, यह सवाल भी है कि क्या इस प्रवृत्ति को पश्चिम का प्रभाव कहकर नकार दिया जाए या इस मुद्दे पर भी विचार किया जाए कि क्यों बार-बार ऐसी प्रवृत्तियां उत्पन्न होती हैं जो न सिर्फ पूंजीवादी-साम्राज्यवादी देशों बल्कि भारत जैसे तीसरी दुनिया के देशों के लेखकों-बुद्धिजीवियों को भी अपने प्रभाव में लेने में सफल होती हैं। इसी को ध्यान में रखने पर हम इस तरह के प्रभावों में आने वाले लेखकों के सोच के प्रति अधिक सहानुभूति के साथ विचार कर पाएंगे। आखिर ज्यां पॉल सार्त्र जैसे लेखक मार्क्सवाद तक अस्तित्ववाद के रास्ते से ही पहुंचे थे। पचास के दशक में अस्तित्वाद की बहस मार्क्सवाद से थी और आज उत्तर-आधुनिकता भी मार्क्सवादी विचारधारा के बरअक्स ही अपने को खड़ा करने का प्रयत्न कर रही है। इसलिए पचास के दशक की बहस का प्रतिनिधित्व करने वाली यह पुस्तक आज की बहस को सही ऐतिहासिक संदर्भ में समझने में मदद करेगी, यह आशा है। और इसी संदर्भ में यह पुस्तक प्रासंगिक भी है।

ज्यां पॉल सार्त्र के मूल फ्रेंच व्याख्यान का अंग्रेजी अनुवाद फिलीप मैरे ने किया था। इस व्याख्यान के बाद सार्त्र के साथ बातचीत भी शामिल है और आरंभ में "प्रस्तावना" के अंतर्गत अस्तित्ववाद के ऐतिहासिक विकास की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। यह हिंदी अनुवाद फिलिप मैरे के अंग्रेजी अनुवाद से किया गया है। अनुवाद को बेहतर बनाने में सहकर्मी एवं मित्र डॉ. विजय श्री ने जो सहयोग दिया है, उसके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं। मित्रवर डॉ. श्याम बिहारी राय के सक्रिय सहयोग से इस पुस्तक का प्रकाशन संभव हुआ है। मैं उनके प्रति भी आभार प्रकट करता हूं।

जवरीमल्ल पारख

संदर्भ

1. देखें: आत्मनेपद : अज्ञेय, पृ. 57; पश्यंती : धर्मवीर भारती, पृ. 159; एवं गिरिजाकुमार माथुर, नई कविता : सीमा और संभावनाएं, पृ. 11.

2. पश्यंती, पृ. 154.
3. साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, पृ. 216.
4. नई कविता : सीमा और संभावनाएं, पृ. 11.
5. पश्यंती, पृ. 156.
6. नई कविता के प्रतिमान, पृ. 105.
7. नई कविता-4, पृ. 15-16.
8. नई कविता 5-6, पृ. 65.
9. आत्मनेपद, पृ. 169.
10. नये प्रतिमान : पुराने निकष, पृ. 123.

प्रस्तावना

हालांकि अस्तित्ववादी आंदोलन फ्रांस में अच्छी-खासी लोकप्रियता हासिल कर चुका है, फिर भी यह फैशन की तरह रोज बदलने वाली विचारधाराओं में से नहीं है। इसके पीछे सौ साल का इतिहास है। और अब तो अस्तित्ववाद की गणना दर्शनशास्त्र में अत्यधिक सिद्धांतवादिता के विरुद्ध होने वाले उन आंदोलनों में की जाती है, जो समय-समय पर सुधार और जागृति हेतु पश्चिमी चिंतन में होते रहे हैं। हालांकि अस्तित्ववाद को आम तौर पर इतिहास विरोधी कहा जाता है, और एक अर्थ में यह ऐसा है भी, फिर भी इसके समर्थक अस्तित्ववाद के पूर्ववर्ती इतिहास के बारे में रूचि दिखाने से नहीं चूकते। ज्यां पॉल सार्त्र के व्याख्यान और साक्षात्कार का प्रस्तुत अनुवाद जिस विचार प्रणाली का प्रतिनिधित्व करता है, उसकी संक्षिप्त प्रस्तावना यहां पर देना असंगत न होगा।

अस्तित्ववाद की चर्चा सबसे पहले उस समय उठी, जब जर्मन दर्शन का महान् युग, द्वंद्ववाद की हीगलीय पद्धति के रूप में पराकाष्ठा पर पहुंच चुका था। लोगों के दिमाग पर छाने वाले और आने वाली पीढ़ियों में हलचल पैदा करने वाले उन विचारों में निहित व्यापक और गहन अंतर्विरोध ने डेनमार्कवासी दार्शनिक सॉरेन कीर्केगार्द को उकसाया। इस अद्वितीय पुरुष का जीवन बाहरी तौर पर ओब्लोमोव की तरह साधारण था, लेकिन उसका आंतरिक जीवन भावुक नाटक से कम रोचक नहीं था और जो असाधारण बौद्धिक सक्रियता से भरा था। सभी अस्तित्ववादी विचारक उनके ऋणी हैं। कभी किसी ऐसे बेचैन और प्रज्ञावान व्यक्ति ने किसी विद्वान से ज्ञान का अर्जन उसे निरर्थक समझ कर ठुकराने के लिए नहीं किया। जो तर्क वह लगातार महान् व्यवस्था-परस्त विचारकों के विरुद्ध रख रहा था, वह मौलिक था, उसमें विनोद भाव था, दृष्टांत और उदाहरण भी थे लेकिन शायद वह प्रस्तुति में उतना नया नहीं था जितना कि गहन था। उसने यह पाया कि अधिकांश दर्शन किसी घटना के घटित होने के बाद, उसके बारे में प्राप्त ज्ञान तो नहीं ही है बल्कि वह सिर्फ ज्ञान के बारे में ही ज्ञान है, उसका घटना से लेशमात्र संबंध है। जब भी किसी इंसान को ऐसे व्यक्तिगत मानवीय निर्णय लेते हुए जिन पर वास्तविक घटनाचक्र निर्भर करता है या जो वास्तविक घटनाओं को प्रभावित करते हैं और विचारों के

विकास को भी, तब न तो मस्तिष्क का कांटवादी विश्लेषण और न ही विचार और इतिहास का हीगलवादी विकास किसी भी रूप में मददगार हो सका। ऐसे असम्बद्ध विचार-विमर्श केवल साधारण निर्णयों की ओर ही ले जा सकते हैं जिनपर कि कोई महत्वपूर्ण बात टिकी नहीं होती। व्यक्तिगत जीवन की वास्तविक और जटिल दुविधाएं न तो तथ्यों के बौद्धिक विस्फोट द्वारा और न ही उनके बारे में वैचारिक नियमों द्वारा हल की जा सकती है। ध्यान रहे कि कीर्केगार्द की नज़र में सिर्फ व्यक्ति ही यथार्थ थे। उनके संकल्प संघर्षो और हलचलों से, चिंताओं से, यंत्रणाओ से और अनजान क्षेत्रों में आस्था भरे दुस्साहस से आत्मा में उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार, प्रत्येक व्यक्ति के अस्तित्व की वास्तविकता उसकी ''आंतरिकता'' में से प्रकट होती है, न कि किसी ऐसी वस्तु से जिसे मस्तिष्क नियमबद्ध कर सकता है क्योंकि वस्तुगत ज्ञान सदैव सत्य से कुछ दूर ही होता है। कीर्केगार्द ने कहा, ''सत्य आत्मपरक है।''

इसी आत्मपरक जगत में ही जिसमें खुद का खुद से और दूसरों की आत्मपरकता से एक आंतरिक रिश्ता है, उसी से व्यक्ति, ईश्वर से परिचित हुआ और उसके साथ उसने अपना संबंध महसूस किया। ज्ञानोदय के युग में भी अधिकांश सैद्धांतिक दर्शनों में ईश्वर की कल्पना का प्रभुत्व था, हालांकि उसको निरपेक्ष कहकर अवैयक्तिक कर दिया गया था। कीर्केगार्द के समय में ऐसी ही दार्शनिक विचारधाराओं का बौद्धिक जगत में प्रभुत्व था। उस समय के ज्यादातर दार्शनिक ईसाई थे और सभी नहीं तो कुछ तो पक्के श्रद्धालु थे। ऐसे ही उनके समकालीन महान् वैज्ञानिक थे, परंतु वैज्ञानिकों की तरह दार्शनिकों के कार्यों ने भी मनुष्य की उड़ान को आस्था के ईश्वर से आगे ले जाने में बड़ा योगदान किया। विचारों के स्तरों और वर्गों की श्रेणियों के रूप में अस्तित्व को विश्लेषित कर उन्होंने जनता की सोच को लौकिकवादी रूप देने में युगांतरकारी कार्य किया। एक तरह से उन्होंने ईश्वर को विचार का ही मूर्त रूप दे दिया। जो वस्तु उनके विचारों के विकासक्रम में छूट गई, वह एक वास्तविक विषय था और वह था–पूर्ण मनुष्य, जिसके अस्तित्व की आंतरिकता अथाह है। तत्कालीन विचारों के परिणामों को दृष्टि में रखें तो कीर्केगार्द के दार्शनिक विद्रोह के औचित्य को शायद ही कोई व्यक्ति असंगत ठहराने का साहस करे। उसने उस चीज के लिए आवाज उठाई जिसको नगण्य और उपेक्षित समझा जा रहा था।

नतीजतन, इस महान् लेखक का साहित्य अपने शाब्दिक अर्थों में दार्शनिक की बजाय ईश्वरपरक अधिक है किंतु आधिभौतिक विचारों के लिए कीर्केगार्द की प्रतिभा से इन्कार नहीं किया जा सकता। हालांकि उनका लेखन अधिकांश रूप में आलोचनात्मक है, फिर भी उनका सकारात्मक योगदान सौंदर्यशास्त्र, नीतिशास्त्र, और

जिसे आत्मा का मनोविज्ञान कहा जा सकता है, उनमें व्यक्त हुआ है। सभी प्रकार के रहस्यवादों और अमूर्त दार्शनिक सिद्धांतों पर अविश्वास करते हुए कीर्केगार्द अपने सोच का आधार आज के मनुष्य विशेष को बनाते हैं। वह मनुष्य जो भावावेगों और चिंताओं से घिरा है। उनके ज्यादातर तर्क, व्यक्तिगत अनुभवों पर टिके हुए हैं जिसमें उनके जीवन के वे क्षण भी शामिल हैं जब वह काम विषयक संकट में से गुजरे थे और जो बाहरी तौर पर हर सामान्य व्यक्ति के जीवन में आते हैं। उन्होंने मनुष्य को ऐसा प्राणी बताया जिसमें आनंद—चिरस्थायी आनंद—के लिए गहरी ललक है। और यदि यह वास्तव में उनकी मनुष्य की परिभाषा न भी होती तो भी वह एकमात्र इसी प्रकार के मनुष्य के बारे में लिखते हैं या उसे समझने की आशा करते हैं। उनके संपूर्ण कार्यों को स्वरूप देने के लिए और उनमें एकता कायम करने के लिए उनके सौंदर्यशास्त्रीय, नैतिक और धार्मिक लेखन में भावावेग की समस्या के तीन संकल्प पर्याप्त व्यस्थित रूप में खोजे गए हैं। कीर्केगार्द के अत्यंत रूढ़ि-विरोधी लेखन प्रणाली ने शायद उनके वास्तविक रूढ़ि विरोध से कहीं अधिक काम किया है। इनके लेखन का भावात्मक परास वाचालता से ज्यादा गहन निष्ठा भरे उद्‌गारों के रूप में व्यक्त हुआ है। एक धार्मिक लेखक के रूप में उनकी व्यापक स्वीकृति को रोकने के लिए उनकी लेखन की इन विशेषताओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती। फिर भी, वह सबसे पहले एक धार्मिक लेखक हैं, और अंत में भी यही सही है। वह कुछ समय के लिए प्रोटेस्टेंट चर्च में उपदेशक रहे और उन्होंने उस चर्च के विरुद्ध जितने भी विद्रोह किए, उनका मकसद परंपरागत आस्था की पुनः खोज करना और उसे दोष-मुक्त बनाना ही था। जैसा कि उन्होंने अपनी 'फाइनल पोस्टस्क्रिप्ट' के अंत में लिखा है कि उनका उद्देश्य जो उसके संपूर्ण लेखन में निहित है, वह उनकी यह इच्छा थी कि पैतृक दाय के रूप में प्राप्त होने वाली सुविख्यात 'ओल्ड टेस्टामेंट' के मूल पाठ में व्यक्ति के व्यक्ति से संबंध को ध्यानपूर्वक बार-बार पढ़ना और यदि संभव हो सके तो पूर्ण हार्दिकता के साथ पढ़ना।

हार्दिकता ही वह शब्द है जिसकी वजह से आज सौ साल बाद भी कीर्केगार्द में अपने पाठकों से आत्मीय संपर्क वना पाने की अद्वितीय क्षमता मौजूद है। उनको पढ़ते हुए हर पाठक को ऐसा लगता है कि मानो जो कुछ लिखा गया है, वह उसी को संबोधित है। इसी बात से यह प्रमाणित हो जाता है कि कीर्केगार्द अस्तित्ववादियों में सर्वप्रथम और श्रेष्ठतम अस्तित्ववादी हैं। फिर भी उनकी मृत्यु के बाद तक उनके कार्य उपेक्षित ही रहे। सिवाय जर्मनी में मामूली जानकारी के, वर्तमान शताब्दी में भी काफी समय तक उनका लेखन कार्य उनकी जन्मभूमि से बाहर अज्ञात ही रहा।

उनके कार्यों का महत्व पिछले दस वर्षों में बढ़ा जब उनके साहित्य का अंग्रेजी में अनुवाद किया जाने लगा।

लेकिन दो विश्वयुद्धों के बीच बौद्धिक अव्यवस्था के दौर में कीर्केगार्द का प्रभाव जर्मनी में बड़ा प्रबल हो गया था और उसके विचार परवर्ती नीत्शेवादी विचारों के साथ जोड़े जाने लगे थे। क्योंकि नीत्शे भी, जिसने शायद कीर्केगार्द का नाम भी न सुना था, एक अस्तित्ववादी था। उसका भावावेग, चिंता और व्यक्तिगत निर्णय के सवाल पर रूमानी जोर था और आधुनिक सभ्यता में मानवता की भयावह दुर्गति के बारे में उसकी समझ लगभग कीर्केगार्द जैसी ही थी। निस्संदेह दोनों विचारकों में गहरा मतभेद है, परंतु इसका तात्पर्य यह भी है कि उनकी विचारों की दुनिया जिससे उनकी सापेक्षिक स्थिति परिभाषित होती है, एक-सी ही प्रतीत होती है। यहां तक कि कीर्केगार्द के उदात्त पुरोहितवाद विरोधी विचार और नीत्शे के ईसाई मत का भीषण विरोध जो मनुष्य की पूर्ण वैयक्तिकता के जीवंत पहलू पर एक नकारात्मक टिप्पणी है, में भी परस्पर संवंध है। नीत्शे का ''सुपरमैन'' और कीर्केगार्द का ''नाइट ऑफ फेथ'' दोनों ही शुद्ध आंतरिक निष्ठा की शक्ति से प्राप्त भावावेग और बौद्धिकता की ज्ञानातीत अवधारणाएं हैं। हालांकि इनमें से एक प्रभुत्व की निष्ठा है और दूसरी आज्ञा पालन की। जहां तक उनकी आत्मपरकता की गुणवत्ता का प्रश्न है, दोनों आदर्श एक से हैं।

फिर भी, इन दो भिन्न लेखकों में मरणोपरांत ऐसा सहयोग अस्तित्ववादी दर्शन के अंदर मौजूद असंगति को ही प्रदर्शित करता है। मूल्यों की परख करने की कसौटी जितनी ही अधिक आत्मनिष्ठ होगी, उतने ही कम वे मूल्य यर्थाथ जीवन के मामलों अर्थात् सांस्कृतिक सवालों, राजनीतिक सिद्धांतों, सामाजिक प्रवृत्तियों या इतिहास से प्राप्त निष्कर्षों पर आधारित फैसलों पर लागू किए जा सकेंगे। आत्मा के मनोविज्ञान की संकीर्ण और निजी अर्थवत्ता से परे अस्तित्ववाद हमें कहां ले जा सकता है? अब तक अस्तित्ववादी चिंतन की दो शाखाएं हो चुकी हैं, एक तो धार्मिक दर्शन की और दूसरी धर्मनिरपेक्ष कर्म मार्ग की जो अब भी धर्म विरोधी ही है। प्रोटेस्टेंट धर्ममत में जो आधुनिक परिवर्तन हुए हैं और जिनका श्रेय सुविख्यात दार्शनिक बार्थ और ब्रुनर को दिया जाता है, उनका मोटे तौर पर उदय अस्तित्ववाद से ही हुआ है। ऐसा ही पूर्णतया धर्मनिरपेक्ष दर्शन हाइडेगर का है। उसके कार्य, समकालीन फ्रांसीसी अस्तित्ववाद के मुख्य स्रोत हैं। वर्तमान में इस बात का कोई संकेत नहीं है कि यह असंगति दूर की जा सकती है या दोनों मुख्य धाराओं के बीच और अधिक खाई पैदा नहीं होगी और न ही यह कहा जा सकता है कि इनकी कई शाखाएं और

उपशाखाएं होकर कालांतर में विलीन नहीं हो जाएगी। फिर भी अगर ऐसा हो भी गया तो भी हमारे समय के धार्मिक, तार्किक और भौतिकवादी दर्शनों को अस्तित्वाद द्वारा दी गई चुनौती निष्फल नहीं होगी। हालांकि निकट भविष्य में इस विचार आंदोलन के विघटित होने की बजाए विस्तृत होने की ही संभावना अधिक है।

यद्यपि सामाजिक और ऐतिहासिक परिस्थितियां दार्शनिक विभिन्नताओं को पूरी तरह समझने में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है, फिर भी उनके परिप्रेक्ष्य में ये दार्शनिक विभिन्नताएं पूर्णतया कभी नहीं समझाई जा सकती क्योंकि प्रायः विचार भौगोलिक सीमाओं और काल की परिधि के आर-पार फैले होते हैं। जिन व्यक्तियों में भी वे अपने विकास के अनुकूल मनोवृत्ति और संवेदनशीलता पाते हैं, पुनः अंकुरित हो जाते हैं। लेकिन इस बात में कोई संदेह नहीं कि 1920 के पराजित जर्मनी और वास्तव में आम तौर पर मध्य योरप की तत्कालीन मनोवृत्तियां और सामाजिक परिस्थितियों ने आत्मपरक पूर्णवाद को पनपने के लिए उर्वर जमीन का काम किया। जिन राजनीतिक और सामाजिक पद्धतियों पर मनुष्य पहले आस्था रखता था,उनके प्रति उसका पूरा मोहभंग हो चुका था, और उसका अविश्वास ऐसी सभी वस्तुपरक विचारधाराओं के सभी संप्रदायों और पद्धतियों तक फैल चुका था, जिनसे वह पहले जुड़ा हुआ था। ऐसी परिस्थितियों में मनुष्य सुरक्षित जीवन के आधार की तलाश में अपने ज्ञान के उद्गम तक पुनः जाना चाहता है। इसके लिए वह अपने आसपास मौजूद सभी विश्वासों, सिद्धांतों और संस्थाओं की सच्चाई पर सवालिया निशान लगाने के लिए भी तैयार हो जाता है और अच्छे समय की तुलना में ऐसे संकटकालीन दौर में मनुष्य मनोवैज्ञानिक और आत्मपरक परिधि में सत्य की खोज की लिए अधिक इच्छुक होता है।

हीडेल्बर्ग में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर और जर्मन अस्तित्ववाद के दो प्रमुख विद्वानों में से एक कार्ल यास्पर्स के लेखन में परिवेश की असुरक्षा का भय और इनके कारणों का खोजपूर्ण विश्लेषण, दोनों ही अस्तित्ववादी प्रयोजन से गहरे रूप से जुड़े हैं। उसकी पुस्तक 'आधुनिक युग में मानव' प्रमुख रूप से तत्कालीन तकनीकी सभ्यता की प्रगति पर शक्तिशाली अभियोग-पत्र है। वह इस सभ्यता को सामाजिक रोग मानता है; विचार की वस्तुपरक कसौटी पर लगातार विश्वास की कीमत मानव अस्तित्व की वास्तविक प्रकृति के प्रति बढ़ती उपेक्षा के रूप में चुकानी पड़ती है। स्पेंगलर की ही तरह, जिसका प्रभाव यास्पर्स के लेखन के शुरूआती दौर में पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ था, यास्पर्स ने भी अपने लेखन में पश्चिम के पतन की भविष्यवाणी कम त्रासद रूप में नहीं की थी। यास्पर्स के अनुसार उस संस्कृति का व्यक्तियों के मस्तिष्क

पर पड़ने वाला प्रभाव ही उस संस्कृति के विनाश का कारण है। विचार की वस्तुपरक और यांत्रिक पद्धति विश्व पर इतनी गहरी हावी हो जाती है कि इच्छा शक्ति उत्तरोत्तर समाप्त हो जाती है। मनुष्य के चिन्तन का तर्कवाद के आगे समर्पण और तकनीकों संबंधी कुशलता के परिणाम उसे यह सांत्वना देते हैं कि वह प्रगति कर रहा है, लेकिन वे उसे नगण्य बनाते हैं अथवा उसके आंतरिक जीवन की आधारभूत शक्तियों से उसे वंचित कर देते हैं। वे शक्तियां ही बाद में विनाश की शक्तियों में बदल जाती हैं। ''वस्तुपरकता का रोग अस्तित्व का विनाश है।'' यास्पर्स का यह कथन कि यदि तकनीकी प्रगति का तर्क पृथ्वी पर मानव अस्तित्व को विनाश की ओर ले जाता है तो उससे बचने का कोई उपाय नहीं है, जब यह कथन लिखा गया था तब की अपेक्षा आज ज्यादा खतरनाक संभावना है। वह घोषित काथलिक थे। मनुष्य के इस स्वीकार के सिवाय कि हालांकि वह स्वतंत्र प्राणी के अलावा कुछ भी नहीं हो सकता, और न ही वह कभी आत्मनिर्भर हो सकता है, यास्पर्स हमारी संस्कृति के दंड से कोई बचाव नहीं देखते। मनुष्य इस बात के लिए स्वतंत्र है ''किंतु मनोव्यथा में'' कि अपने जीवन को या तो वह मूर्त ईश्वर के प्रभाव में रखे या अहंकार से उसको अस्वीकार कर उसका तिरस्कार कर दे। इस प्रकार यास्पर्स के विचार धार्मिक दर्शन में परिणत हो जाते हैं। ऐसा धार्मिक दर्शन जो स्वीकृत ईसाई परंपराओं से उतना ही मेल खाता है जितना कि कीर्केगार्द का दर्शन। किंतु भले ही जहां कीर्केगार्द की यांत्रिक ईसाई जगत के विनाश की चेतावनी प्रायः चौंकाने की हद तक सही है, वे वस्तुतः ऐसी अंतः प्रज्ञाएं हैं जो उन्नीसवीं शताब्दी के वैभव-सम्पन्न योरप को भेदते हुए उसके गर्भ में छिपे विनाश की भविष्यवाणी करती है। यास्पर्स के संसार का भाग्य पहले से ही उसे घेर रहा है और उसके लेखन का एक महत्वपूर्ण भाग मनुष्य की लौकिक स्थिति के अध्ययन से जुड़ा है। आत्मपरकता के उसके समर्थन का अधिकांश इसकी उपेक्षा करने के लौकिक परिणामों की ही अभिव्यक्ति है।

मगर यास्पर्स के समकालीन, फ्राइबोर्ग का दार्शनिक मार्टिन हाइडेगर के अनुसार मनुष्य के स्वयं के परे ऐसा कुछ नहीं है जो मनुष्य के अस्तित्व की समस्या का समाधान कर सके। हाइडेगर एक प्रसिद्ध विचारक है जिसका दर्शन को दिया गया स्थायी योगदान बहुत महत्वपूर्ण है। वह ऐसा अस्तित्ववादी भी है जो युद्ध के आतंक से ग्रस्त योरप के बौद्धिक उथल-पुथल में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। वह ऐसा व्यक्ति है जो अपने समय की तमाम मनोवैज्ञानिक, मनोविश्लेषक और अव्यावहारिक दर्शनों में गहरी पैठ रखता है। एक नए दर्शन के आधार की खोज में वह उन दर्शनों के अवचेतन में छिपे रूप से परिचय रखता है। ये आंदोलन बहुत सारी रोचक और

महत्वपूर्ण बातें सामने लेकर आए जिनमें घटनाक्रिया विज्ञान (Phenomenology) भी शामिल है। हसरेल जो फिनोमनोलॉजी का मुख्य प्रवर्त्तक था, हाइडेगर का शिक्षक भी था।

घटनाक्रिया विज्ञान, मनोविज्ञान की एक उच्च वैज्ञानिक शाखा है। यह मनोविश्लेषण जैसा नहीं है, जो मस्तिष्क के प्रभावात्मक और संवेगात्मक पहलुओं से संबंध रखता हो, बल्कि उसकी बोधात्मक क्षमताओं के विस्तृत प्रयोगात्मक अध्ययन पर आधारित है। इस विषय का विस्तृत वर्णन करना प्रस्तावना के क्षेत्र से वाहर होगा। परंतु घटनाक्रिया विज्ञान के महत्व के बारे में एक सरल तथ्य प्रस्तुत करना लाभदायक होगा। उदाहरण के लिए, यदि हम सफेद वर्ग पर काला माल्टिज क्रॉस बनाएं तो हम या तो क्रॉस ही देख सकते हैं या उसके अंगों के बीच के रिक्त स्थान को देख सकते हैं, परंतु हम दोनों रूप एक-साथ नहीं देख सकते। दूसरे मामले में
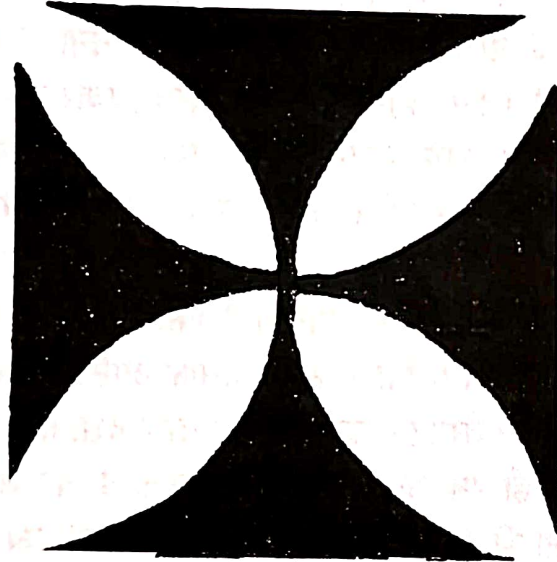
जब काले रंग को वीच के रिक्त स्थान के रूप में लेते हैं, तब हम चित्र को काली पृष्ठभूति पर चार पंखुड़ी वाले सफेद फूल के रूप में देखते हैं। हमको इस चित्र का वोध इस रूप में या दूसरे रूप में क्यों होता है ? शायद एक बागवान को यह चित्र फूल के रूप में और एक सैनिक को क्रॉस के रूप में दिखाई देगा। बोध चुनाव के इस पहले से मौजूद तत्व पर निर्भर करता है जो उस रूप को निर्धारित करता है जिसके द्वारा हमें न सिर्फ सभी तरह के रेखागणितीय आकारों बल्कि ऐसे सभी फिनोमिनाओं का वोध होता है जिनके प्रति हम सजग होते हैं। जिसका हमें बोध होता है, वह किसी वस्तुपरक का प्रतिविंब नहीं है जिसका कि मस्तिष्क अपने पटल पर हू-बू-हू तस्वीर अंकित करता है। वह उस वस्तु की और मस्तिष्क की अवबोधक

गतिविधि का परिणाम है। और यह भी किसी निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए होने वाले तनाव या प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। (इसका मनोविश्लेषण से संबंध देखना आसान है—फ्रायड के मनोविश्लेषण की अपेक्षा यह एडलर के मनोविश्लेषण के अधिक निकट है।) अतएव, वस्तुपरकता जैसी कोई चीज नहीं है। या यदि वह है भी तो, केवल बोध के संभावित रूपों के या उन रूपों के सभी संबंधों और आंतरिक निर्भरताओं के ज्ञान में ही स्थित हो सकती है। इस ज्ञान को कुछ निश्चित आधारभूत सूत्रों में बांधा जा सकता है। संक्षेप में, जो ज्ञाता के संपूर्ण ज्ञान का प्रतिनिधित्व भी कर सकता है। उस ज्ञाता के जो ज्ञानातीत है और जिसमें और जिसके द्वारा हमारे सब बोध आकार लेते हैं। इससे कोई भी अनुमान लगा सकता है कि यही विशुद्ध घटनाक्रिया वैज्ञानिकों का लक्ष्य है। हालांकि उनके कार्य वर्णनात्मक तथ्यों से आरंभ होते हैं और अमूमन प्रयोगों द्वारा निर्दिष्ट होते हैं, फिर भी उनमें कांटवादी परंपरा का साफ अनुगमन दिखाई देता है। किंतु हमारे बोधात्मक तत्व सक्रिय या जैवशक्तिवादी धारणा के द्वारा गतिशील रहते हैं और ''चुनाव'' की इस सीमा पर वे नित्य संतुलित रहते हैं। इस अनुमान पर आधारित विचार की अमूर्त परंपरा को हाइडेगर ने गहन अध्ययन करके हमारे व्यथित जगत की आवेगधर्मी मनुष्यता के अध्ययन द्वारा जारी रखा है—और ऐसा करके वह अपने गुरु हसरेल को नाराज कर देता है।

कीर्केगार्द की भांति हाइडेगर भी जानता है कि मनुष्य की गहन चिंता उसके यह अनुभव करने और जानने मे निहित है कि उसका अस्तित्व है। और यही उसकी समस्त चिंताओं का मूल है। जैसा कि घटनाक्रिया विज्ञान दर्शाता है, अगर हम वस्तुओं को नहीं जानते और न ही हम अपने आपको जो कर्ता है, को जानते हैं। यदि हम केवल उन घटनाओं को ही जानते हैं, जो इन दो ''अज्ञातों'' की पारस्परिक क्रिया का अल्पकालिक और सांयोगिक उत्पादन है—तब इस जीवन में जन्म लेना, घटनाओं के प्रवाह में ''परित्यक्त-सा'' अपने आपको फेंक देना है, जो हमारे अपने अस्तित्व के लिए ''उत्तरदायी'' होना है फिर भी हम अपनी ''मनोव्यथा'' में स्पष्ट अनुभव करते हैं कि संपूर्ण जीवन अर्थहीन हैं।[1] हाइडेगर द्वारा बताए गए उपचार में कुछ-कुछ नीत्शे के विचारों की झलक मिलती है। मनुष्य की एकमात्र आशा, इस सत्य को पूर्ण अनुभव करने और स्वीकारने में है कि ''ये वस्तुएं ऐसी ही हैं जैसी ये प्रतिभासित

---

1. ये सभी शब्द सार्त्र के प्रस्तुत व्याख्यान में से लिए गए हैं या उनसे जुड़े हैं।

होती हैं, न कि अन्य प्रकार की।'' और यद्यपि उसका निजी भाग्य महज नष्ट होने में है, फिर भी वह कुछ ''उद्देश्यों'' और परियोजनाओं'' का आविष्कार करके अपने भाग्य पर विजय प्राप्त कर सकता है, जो उसे और वस्तु जगत् दोनों को अर्थ प्रदान करते हैं, नहीं तो वे अपने आप में पूर्णतया अर्थहीन हैं। वास्तव में इसका कोई कारण नजर नहीं आता कि आखिर मनुष्य को ऐसा क्यों करना चाहिए, सिवाय इसके कि उसको अपने अस्तित्व का सच्चा ज्ञान हासिल होता है। परंतु ठीक यही उसकी महान् एवं ज्ञानातीत आवश्यकता और इच्छा है। बहुत कम लोग अपने अस्तित्व की सत्यता को इस तरह सिद्ध करने की क्षमता रखते हैं। अधिकांश लोग आसन्न मृत्यु के बारे में कम-से-कम सोचकर और मानवता, विज्ञान या किसी वस्तुपरक दिव्यता के प्रति श्रद्धा रखकर, अपने आपको सांत्वना देते हैं।

वीरता के सूक्ष्म धागे द्वारा मुक्त यह दयारहित नास्तिकता, सार्त्र स्कूल के फ्रांसीसी अस्तित्वादियों का प्रामाणिक सिद्धांत है। लेकिन उस देश में अस्तित्ववाद के दूसरे भी बहुत से समर्थक हैं, उसमें से एक दार्शनिक और नाटककार गेब्रिएल मार्सेल का नाम लिया जा सकता है। उनके द्वारा रोमन काथलिक धर्म अंगीकार करना अस्तित्ववादी दृष्टिकोण के पूर्ण स्वीकार को दर्शाता है। मार्सेल, हाइडेगर की तुलना में नीत्शे का अधिक ऋणी है, वह कीर्केगार्द से सीधे प्रभावित है तथा सबसे ज्यादा स्वयं अपनी फ्रांसीसी दार्शनिक परंपरा का आभारी है। फ्रांस में अस्तित्ववादी विचारधारा की नदी में दूरस्थ स्रोतों से बहुत सारी धाराओं के आ मिलने से, उसमें बाढ़ आ गई है। और नाम न भी लें तो चेस्टाव, बर्डियाफ़ और यहां तक कि काफ़्का का नाम अस्तित्ववादी साहित्य में बार-बार आता है। तथा उन लेखकों का नाम भी लिया जाता है जिनकी वर्तमान विकट स्थिति में और उसके द्वारा जो खतरा आत्मगत अस्तित्व को पैदा हुआ है, उसके बारे में वैसी ही अंतर्दृष्टि दिखाई देती है। साक्ष्यों की यह विविधता जहां यह सिद्ध करती है कि तत्कालीन योरपीय चिंतन में अस्तित्ववाद एक सहज प्रवाहित आंदोलन है, वहां वह उसकी राजनीतिक और धार्मिक अस्पष्टताओं को दूर करने में कोई योगदान नहीं देता। परंतु इसकी अनिश्चितता ने ही अस्तित्ववाद को ऐसी क्षमता प्रदान की है कि वह एक ऐसा मंच और ऐसी भाषा प्रदान कर सका जिसके माध्यम से धार्मिक, धर्मनिरपेक्ष, आदर्शवादी और धर्मविरोधी प्रचारक प्राथमिक महत्व की और सबसे जुड़ी हुई मानव समस्याओं पर विचार-विमर्श करने के लिए मिलते हैं और मिल सकते हैं।

इस कार्य का निष्पादन, जो अस्तित्ववादी पद्धति के तीव्र व्यक्तिवाद द्वारा ही संभव हुआ है, इस दर्शन को एक मानववादी दर्शन के रूप में सार्त्र के बचाव को

न्यायोचित ठहराता है। वास्तव में यह जितना सुधार है, उतना ही मानववाद का एक रूप भी है। उस परंपरा के प्रवर्त्तकों के अनुसार, मनुष्य ''अच्छा'' ही पैदा हुआ था या नैतिक रूप से वह निष्पक्ष था जब तक कि उसकी इच्छा को भ्रष्ट दर्शन और अन्यायी संस्थाओं ने विकृत नहीं कर दिया—जब से मनोविश्लेषण का युग आरंभ हुआ तब से यह धारणा असंगत मानी जाती है और कीर्केगार्द, नीत्शे और हाइडेगर के दृष्टिकोण से भी यह विचार योग्य नहीं है। समकालीन अस्तित्ववादियों का मानववाद निर्णयक रूप से भ्रांति-मुक्त हैं और गहन नैतिक तनाव जो सार्त्र के मामले में कम महत्वपूर्ण नहीं हे, जिसकी कर्म की नीति कांटवादी है। उस तनाव का कोई भी कर्ता जहां तक इसका अनुमान लगा सकता है, इसकी सार्वभौम वैधता भी है। किंतु अनैतिकता की सार्त्र की व्यावहारिक कसौटी पाप की धार्मिक धारणा के अधिक नजदीक है। वह कहता है, अनैतिक कर्म सदैव अपने द्वारा ही अपनी आत्मा के अंतर्विरोध से पहचाने जाते हैं, जिसको वह मावेसी फॉई (Mauvaise foi)[1] कहता है। इस विंदु पर, मनोवैज्ञानिक विश्लेपक द्वारा, क्षण-भर के लिए धर्मनिरपेक्ष आदर्शवाद और धार्मिक परंपरा एक-दूसरे के निकट लाई गई है—उनके इस बोध में कि मनुष्य के अंदर अपराध भावना के अलावा, ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो व्यक्तिगत (दूसरों से अलग होने के अर्थ में) हो।

किंतु इस तरह अगर जो अधिक आत्मपरक है, वही सामान्य भी है तथा अत्यंत गुप्त भी है, तव अस्तित्ववादी अपनी आवश्यक सामग्री कैसे प्राप्त करता है ? अपने अध्ययन के लिए जो सामग्री इससे मिली है, उसी से पहली बार अस्तित्ववाद फ्रांस में व्यावहारिक दर्शन बन गया है। यह इस अर्थ में नहीं कि फ्रांस में लोग उनके अनुसार जीवन जीने की कोशिश करते हैं, (हालांकि ऐसा ही कहा गया है) बल्कि इस अर्थ में कि फ्रांसीसी ऐसे कला प्रेमी हैं जो इसकी सामग्री को कथा रूप में पेश

---

1 मावेसी फॉई (mauvaise foi) सार्त्रवादी अस्तित्ववाद की मूलभूत धारणाओं में से एक है। सार्त्र की दूसरी रचनाओं में भी ठोस दृष्टांतों द्वारा इसे ठीक-ठीक वर्णित किया गया है। मैं सदैव इसका अनुवाद 'आत्म प्रवंचना' के रूप में करता हूं, जो उसके ठीक-ठीक शाब्दिक अनुवाद से वेहतर है और अर्थ की दृष्टि से भी निकट है। दूसरी महत्वपूर्ण सार्त्रवादी धारणा 'इंगेजमेंट' का अनुवाद यहां 'कमिटमेंट' किया गया है। इस फ्रांसीसी शब्द का अर्थ हमारे 'इंगेजमेंट' शब्द से विलकुल भिन्न है। अस्तित्वादी 'इंगेजमेंट' अनिवार्य रूप से एक पक्षीय है।

करने की क्षमता रखते हैं। एक ऐसा सिद्धांत जो व्यक्तिगत आत्मपरकता पर निर्भर है, वह आत्मकपरकता जिसका अस्तित्व सत्य से पहले आता है, उसे अपनी विषय-वस्तु की प्रामाणिकता के लिए आत्मकपरकताओं के वर्णन की जरूरत होती है। इसके अलावा, जहां तक अस्तित्ववादी खुद इन्हें प्रस्तुत करते हैं—जैसा कि कार्केगार्द प्रस्तुत करता है और कुछ हद तक मार्सेल और दूसरे पेश करते हैं—उनका स्थान सिर्फ़ कलाकारों का सहज ज्ञान ही ले सकता है। कीर्केगार्द के लिए कला का आधारभूत महत्व है। उसका विचार है कि जो मनुष्य न धार्मिक है और न कलाकार, वह निश्चय ही मूर्ख होगा। हालांकि यह दूसरी बात है कि कीर्केगार्द मानव की आत्मपरक घटनाओं का विश्वसनीय वर्णन देने हेतु कलाकारों पर विश्वास करने के लिए किस हद तक तैयार हुआ होगा। लेकिन ऐसे अंतर्ज्ञानी और कल्पनाशील वर्णन चाहे उनकी कैसी ही विश्वसनीयता क्यों न रही हो, फ्रांस में प्रचुर मात्रा में दिए गए हैं। उन क्षेत्रों में भी जहां अस्तित्ववादी ज्ञान के या कम-से-कम उसकी शर्तों और वर्गों के फैलने की कोई संभावना नहीं थी, उन्होंने अकस्मात् व्यापक रूप से फैलना संभव बनाया है। फ्रांसीसी अस्तित्ववाद तत्वतः साहित्यिक कलाकारों के कृत्यों का ही परिणाम है और सार्त्र की स्वयं की अस्तित्ववाद की व्याख्या को उसके उपन्यासकार के रूप में साहित्य को दिए गए महत्वपूर्ण योगदान से अलग नहीं किया जा सकता।

इस आंदोलन की परिणति के बारे में या अंतिम मूल्य के बारे में कोई भविष्यवाणी नहीं कर सकता। वे प्रबल विरोध जिसे स्वयं इसने प्रेरित किया है, जिनमें से कुछ विरोध दार्शनिक और आलोचनात्मक मूल्य रखते हैं, वे इसकी जीवन शक्ति का प्रतीक हैं। यूरोप के आधुनिक सांस्कृतिक इतिहास में इसकी नींव कितनी गहरी है, यह जानने के लिए किसी भी व्यक्ति को इसके उद्‌गम को जानने और प्रतिक्रियाओं का अवलोकन करने की आवश्यकता है, पहले के उन आंदोलनों से इसके गहरे संबंध का तो कहना ही क्या, जो अपने प्रभाव में अत्यधिक सृजनात्मक थे। उस बातचीत में, जो इस व्याख्यान के पश्चात् प्रस्तुत की गई है, विवेकशील पाठक इस बात पर जरूर ध्यान देगा कि पाश्चात्य चिंतन में हाल ही में घटित कई व्याघात—विज्ञान पर अनियतिवाद का, मनोविज्ञान पर विश्लेषक विधि का, ऐतिहासिकता पर संशयवाद का और दर्शनशास्त्र पर घटनाक्रिया विज्ञान के प्रभाव का—इन सब पर इस अत्यधिक मूलगामी और यथार्थवादी चिंतन में विचार किया गया है। न तो इसकी पूर्ण आधुनिकता पर और न ही इसके प्रतिनिधि रूप पर संदेह किया जा सकता है। और इसके भविष्य की ओर चाहे वह आशा से भरा हो या जैसा भी हो कम-से-कम उन लोगों द्वारा दिलचस्पी से देखा जा रहा है, जिसकी इन महत्वपूर्ण आंदोलनों पर

विवेकपूर्ण दृष्टि रहती है।

यदि संपूर्ण नहीं तो इसका अधिकांश भाग, सरलता से ''अशिष्ट'' अर्थ में प्रयुक्त किया जा सकता है, न केवल फ्रांसीसी भाषा में ही अपितु अंग्रेजी भाषा में इसके कम प्रतिष्ठित अर्थ में भी। इस मुद्दे पर निर्णय में और विलम्ब क्यों नहीं किया जा सकता, इसमें भी एक कारण अंतर्निहित है। एक दर्शन, जिसमें आत्मपरकता की संपूर्ण स्थिति के अर्थ में ''चुनाव'' एक प्रमुख भाग अदा करता है, वह दर्शन ''रूपांतरण'' का दर्शन है। विचार करने पर अनिवार्यतः इसकी आत्मपरकता पवित्र और विशुद्ध हो सकती है। किंतु बहिर्मुखी रूप से इसके समर्थक कुछ बातों में प्रचारक हैं और उनके प्रभाव में ऐसे रूपांतरण संभव हैं जिनका वस्तुपरक पक्ष भी है अथवा फिर वे अस्तित्ववादी भी नहीं हैं। वास्तव में ये ढोंगी अनुयायियों के होने का कारण हो सकता है, जिनके लिए अस्तित्ववाद लोगों को अपने मत में लाने का उपकरण मात्र हो। परंतु इससे तो वास्तविक समस्या और जटिल होगी तथा सच्चा अस्तित्ववाद भी उसका समाधान ढूंढने में अपने को असमर्थ पाएगा। वास्तव में, इस समस्या का समाधान संभव नहीं लगता।

सार्त्र के व्याख्यान में राजनीतिक गतिविधि की ओर ''रूपांतरणशील'' प्रवृत्ति नेविली जैसे अधिकांश लोगों की दृष्टि में भूलतः इसके सिद्धांत से मेल नहीं खाती। उसके लिए स्वतंत्रता सब मूल्यों का मूल्य है। स्वतंत्रता के दार्शनिक के रूप में सार्त्र का अस्तित्ववाद को दिया गया योगदान अत्यधिक महत्वपूर्ण है और अपने देश की ज्ञान संपन्न परंपरा को अत्यधिक सम्मान देने में वहुत बड़ा भाग अदा करता है। परंतु पूर्ण स्वतंत्रता के दर्शन के राजनीतिक निहितार्थ क्या हो सकते हैं, वह उन पर विचार नहीं कर सका है। न ही उसने आत्मपरकता के परिणामों को उस गहराई तक विकसित किया है, जिस गहराई और दूरी तक कीर्केगार्द ने किया है, वह उससे कम सीमा तक ही विकसित कर सका है। यदि उसने ऐसा किया तो, यह हो सकता है, जैसा कि प्रोफेसर सॉरेट का विचार है, उसके लेखन की आधारभूत परिसीमाओं में अंतर्निहित दार्शनिक आवश्यकताएं उसे आस्तिक स्थिति तक ले जाएं। यह तो कम-से-कम प्रत्यक्ष ही है कि वह उन्हीं प्रश्नों को उठाता है, जिनको इस युग के बहुत से लोग रूढ़िबद्ध विज्ञानवाद के नाम पर दबाने के लिए उत्सुक हैं।

फिलिप मैरे

अस्तित्ववाद और मानववाद

अस्तित्ववाद के विरुद्ध जो अनेक आरोप लगाए गए हैं उनका प्रतिवाद करना ही यहां मेरा अभिप्राय है।

सबसे पहला आरोप जो हम पर लगाया जाता है वह यह है कि यह लोगों को निराशा के निवृत्ति मार्ग की ओर ले जाता है। क्योंकि अगर समाधान का कोई उपाय न रहा तो इस संसार में व्यक्ति हर कर्म को प्रभावहीन मानेगा और अंततः वह चिंतन-प्रधान दर्शन तक आ पहुंचेगा। चूंकि कोरा चिंतन विलासिता है, इसलिए यह एक और बूर्जुआ दर्शन ही होगा। इस प्रकार की निंदा खास तौर पर कम्युनिस्टों की तरफ से की गई है।

एक अन्य पक्ष हम पर आरोप लगाता है कि जो कुछ मानव जीवन में निंद्य है, उसको हम विशेष महत्व देते हैं। जीवन के हीन और कुत्सित पक्ष को चित्रित करते हैं और उस आधार को बल देते हैं जो उन वस्तुओं की उपेक्षा करता है जो आकर्षक और सौंदर्य से युक्त है तथा मानव-प्रकृति के उज्ज्वल पक्ष से संबंधित है। उदाहरण के लिए, काथलिक आलोचक कुमारी मर्सियर के अनुसार हम यह भूल जाते हैं कि एक शिशु कैसे मुस्कुराता है। दोनों प्रकार के लोग हमारी निंदा यह कहकर भी करते हैं कि हम मानव जाति की एकता पर विचार न करके मनुष्य को अलगाव में देखते हैं। कम्युनिस्टों का कहना है कि ऐसा इसलिए है कि हमारा सिद्धांत शुद्ध आत्मपरकता और देकार्तवादी *''मैं सोचता हूं''* पर आधारित है। यह वह क्षण है जिसमें अकेला मनुष्य सिर्फ खुद को हासिल करता है। यह एक ऐसी स्थिति है जहां से एक मनुष्य की दूसरे मनुष्य जिसका अस्तित्व उसके स्व से अलग है, के साथ एकजुटता पा सकना असंभव है। *''मैं सोचता हूं''* की भावना के द्वारा *अहम्* को उन तक नहीं पहुचाया जा सकता।

ईसाई हमारी निंदा यह कहकर करते हैं कि हम मानव कार्यों की यथार्थता एवं गंभीरता को अस्वीकार करते हैं। क्योंकि हम ईश्वरीय आदेश और शाश्वत कहे जाने वाले समस्त मूल्यों की उपेक्षा करते हैं, इसलिए नितांत ऐच्छिकता को छोड़कर हमारे लिए कुछ भी महत्वपूर्ण नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति जो चाहता है, कर सकता है और इस दृष्टि से वह किसी भी दूसरे के कार्यों की अथवा दृष्टिकोण की भर्त्सना करने

के काबिल नहीं रहेगा।

ये कुछ आरोप हैं जिनका उत्तर देने का प्रयास आज मैं करूंगा। इसलिए मैंने आज के वक्तव्य को "अस्तित्ववाद और मानववाद" शीर्षक दिया है। बहुत से लोगों को आश्चर्य हो सकता है कि इस प्रसंग में मैंने मानववाद का उल्लेख क्यों किया है। किंतु हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि हम इसे किस अर्थ में समझते हैं। कुछ भी हो, हम अपनी बात इस कथन के साथ शुरू कर सकते हैं कि हमारे लिए "अस्तित्ववाद" शब्द का अर्थ एक ऐसा सिद्धांत है जो मानव जीवन को संभव बनाता है और जो मानता है कि प्रत्येक सत्य और कर्म का संबंध मानव परिवेश तथा उसकी आत्मपरकता में निहित होता है। हम पर मुख्य आरोप यह लगाया जाता है कि हम मानव जीवन के बुरे पक्ष पर अधिक बल देते हैं। हाल ही में मुझे एक महिला के बारे में बताया गया है कि जब किसी बेचैनी के क्षण में उसके मुंह से अशिष्ट बात निकल जाती थी तो वह अपने को यह कहकर माफ कर देती थी कि वह अस्तित्ववादी बनती चली जा रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुरूपता को अस्तित्ववाद का पर्याय समझा जा रहा है। इसी कारण कुछ लोग हमें "प्रकृतवादी" कहते हैं। यदि वास्तव में हम प्रकृतवादी हैं तो यह अजीब लगता है कि हम उनको कितना विक्षुब्ध और संत्रस्त करते हैं। जिसे वास्तव में हम प्रकृतवाद कहते हैं, उससे आज कोई इतना भयभीत और अपमानित अनुभव नहीं करता। जो लोग ज़ोला के उपन्यास "ला तेरा" (La Terra) को पढ़ने से बचते हैं, उन्हें अस्तित्ववादी उपन्यास पढ़ते ही मितली आने लगती है। जो लोग दूसरों की निराशावादी वृत्ति का सुधार करना चाहते हैं, उन्हें हमारी वृत्ति और भी निराशावादी प्रतीत होती है। और इन मुहावरों से अधिक कौन भ्रम दूर कर सकते हैं : "पहले अपना पीछे पराया" या "बुरे को सहारा देने पर वह सिर पर चढ़ता है और उसे दबाकर रखें तो वह आपके पांव पड़ता है।" हम सब जानते हैं कि इस प्रकार के कितने ही कथन उद्धृत किए जा सकते हैं और उन सबका एक ही अर्थ है कि आपको ताकत का विरोध नहीं करना चाहिए, अपने से अधिक शक्तिशाली के विरुद्ध संघर्ष नहीं करना चाहिए, अपनी सामर्थ्य से बढ़कर आपको दूसरों के कामों में दखल नहीं देना चाहिए। अथवा कोई भी कर्म जो किसी परंपरा के अनुकूल नहीं है, मात्र रूमानियत है। या किसी भी उत्तरदायित्व की पहले से ही पराजय निश्चित है, यदि वह पूर्व प्रमाणित अनुभवों पर आधारित नहीं है। और क्योंकि अनुभव ने बताया है कि मनुष्य निरंतर बुराई की ओर झुकता है अतः रोक सकने के लिए कठोर नियम होने चाहिए अन्यथा हम अराजकता की ओर बढ़ेंगे। ये ही लोग हैं जो ऐसी निराशापूर्ण लोकोक्तियों को दोहराते हैं और जब उन्हें किसी

कम या अधिक अरुचिकर कर्म के बारे में बताया जाए, मसलन "मानव प्रकृति के संबंध में"—तो यही लोग जो सदैव यथार्थवाद के गीत गाते हैं, शिकायत करते हैं कि अस्तित्ववाद बहुत अधिक निराशावादी दृष्टिकोण है। वास्तव में उनके अत्यधिक विरोध को देखते हुए संदेह पैदा होता है कि उनकी यह खिजलाहट हमारे निराशावाद से कहीं अधिक हमारे आशावाद का परिणाम तो नहीं है। मैं जिस बुनियादी बात को आपको बताने की कोशिश कर रहा हूं वह यह है कि इस सिद्धांत में जो चुनौती निहित है वह व्यक्ति को चुनाव की संभावना के रूबरू खड़ा कर देना है। इसे सही साबित करने के लिए हमें इस प्रश्न को दृढ़ता से दार्शनिक स्तर पर पुनर्मूल्यांकित करना चाहिए। तब वह क्या है जिसे हम अस्तित्ववाद कहते हैं ?

जो लोग इस शब्द का उपयोग करते हैं, उन्हें अगर इसका अर्थ बताने की आवश्यकता पड़े तो उनमें से अधिकांश बेतहाशा उलझन में पड़ जाएंगे। चूंकि जबसे यह फैशन में शुमार हो गया है, लोग प्रसन्नता से यह कहते फिरते हैं कि अमुक संगीतकार या चित्रकार "अस्तित्ववादी" है। *क्लॉरिट्स* का एक स्तंभ लेखक हस्ताक्षर के रूप में "अस्तित्ववादी" लिखता है। वास्तव में अब इस शब्द को बहुत-सी वस्तुओं पर सरलता से लागू किया जाता है कि इसका कोई अर्थ नहीं रह गया है। इससे यह प्रतीत होगा कि अतियथार्थवाद जैसे किसी नूतन सिद्धांत के अभाव में वे सभी जो इस प्रकार के प्रवाद या आंदोलन में भाग लेने को उत्सुक रहते हैं, अब इस दर्शन की ओर बढ़ने लगे हैं, हालांकि इसमें उनके मतलब का कुछ भी नहीं है। क्योंकि सच्चाई यह है कि अस्तित्ववाद सब शिक्षाओं में सबसे कम प्रवादजनक और सबसे अधिक आडंबरहीन है। अभिप्राय यह है कि यह टेक्नीशियनों और दार्शनिकों के लिए है। फिर भी, इसे सरलता से परिभाषित किया जा सकता है।

यह सवाल इसलिए उलझ जाता है क्योंकि अस्तित्ववादी दो प्रकार के हैं। एक ओर ईसाई मत के मानने वाले हैं, जिनमें मैं यास्पर्स और गेब्रिएल मार्सेल का नाम लूंगा। दोनों ही माने हुए काथलिक हैं। दूसरी ओर, नास्तिक अस्तित्ववादी हैं जिनमें हम हाइडेगर व फ्रांस के अस्तित्ववादियों की गणना कर सकते हैं। मैं भी इन्हीं में से हूं। इन दोनों में समान तत्व यह है कि दोनों मानते हैं कि अस्तित्व सत्व से पूर्व आता है—या यदि आप चाहें, तो हमें आत्मपरकता से शुरू करना होगा। हम इसका सही अर्थ क्या समझते हैं ?

उदाहरण के लिए, यदि हम किसी उत्पाद्य वस्तु को लें, जैसे किताब या चाकू—तो कोई भी देख सकता है कि इन्हें किसी कारीगर ने बनाया है जिसके मन में इनकी स्पष्ट अवधारणा थी। चाकू की अवधारणा और उत्पादन की पहले से मौजूद तकनीक

जो इस अवधारणा का एक भाग है तथा साथ ही इनके आधार का एक सूत्र है, इनके प्रति कारीगर समान रूप से ध्यान देता है। इस प्रकार चाकू जहां एक ओर निश्चित ढंग से तैयार की गई उत्पाद्य वस्तु है वहीं दूसरी ओर निश्चित उद्देश्य को पूरा करती है क्योंकि कोई यह नहीं मान सकता कि एक व्यक्ति चाकू को बिना यह जाने बनाएगा कि वह किसलिए बनाया गया है। तब हमें चाकू के लिए कहना चाहिए कि उसका सत्व—यानी कि वे सूत्र तथा गुण जिन्होंने उसके उत्पादन को और उसकी परिभाषा को संभव बनाया है—उसके अस्तित्व से पूर्व घटित होते हैं। मेरी दृष्टि में पहले ही चाकू और पुस्तक की मौजूदगी नियत हो चुकी है। तब यहां हम विश्व को तकनीकी दृष्टि से देख रहे हैं और हम कह सकते हैं कि उत्पादन अस्तित्व से पूर्व मौजूद होता है।

जब हम ईश्वर के बारे में सृष्टा के रूप में सोचते हैं तो हम अधिकांश समय उसे एक महानतम शिल्पकार के रूप में सोच रहे होते हैं। हम किसी भी सिद्धांत को लेकर चलें हों, चाहे वह देकार्त के सिद्धांत जैसा हो अथवा स्वयं लाइबनित्ज़ जैसा, हम हमेशा मानते हैं कि इच्छा कमोबेश विवेक का अनुसरण करती है या साथ-साथ चलती है। इसलिए जब ईश्वर सृष्टि करता है तो वह साफ तौर पर जानता है कि वह क्या रच रहा है। इस प्रकार, ईश्वर के मस्तिष्क में मनुष्य की धारणा शिल्पकार के मस्तिष्क में चाकू की धारणा से तुलनीय है। ईश्वर मानव का निर्माण एक कार्य प्रणाली और एक धारणा के अनुसार करता है, ठीक वैसे ही जैसे कि एक शिल्पकार चाकू का निर्माण एक परिभाषा और सूत्र के अनुसरण पर करता है। इस प्रकार, प्रत्येक व्यक्ति की सृष्टि ईश्वर की धारणा के अनुरूप होती है। 18वीं सदी में दार्शनिक निरीश्वरवाद ईश्वर की धारणा को दबा चुका था, परंतु उस सिद्धांत को नहीं कि सत्व अस्तित्व का पूर्ववर्ती है। इस विचार का कुछ अंश निश्चित रूप से सभी जगह मिलता है, जैसे डिडरो में, वाल्तेयर में और यहां तक कि कांट में भी। मनुष्य मानव प्रकृति से युक्त होता है। जो मानव-सत्ता की अवधारणा है तथा जो प्रत्येक व्यक्ति में पाई जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति सार्वभौम अवधारणा का विशिष्ट उदाहरण है और यह मानव-अवधारणा है। कांट में यह सार्वभौमिकता उस सीमा तक चली गई है जहां जंगल में रहने वाले लोग, प्राकृतिक अवस्था में रहने वाला मनुष्य तथा बूर्जुआ लोग, इन तीनों प्रकार के लोग एक ही परिभाषा में बंधे हैं और उनमें एक ही प्रकार के मूलभूत गुण होते हैं। यहां फिर मनुष्य का सत्व ऐतिहासिक अस्तित्व से पूर्व घटित होता है, जिससे हमारा अनुभव में सामना होता है।

अस्तित्ववाद और मानववाद

नास्तिक अस्तित्ववाद, जिसका मैं एक प्रतिनिधि हूं, पूर्ण संगति के साथ घोषणा करता है कि यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो भी एक सत्ता ऐसी है जिसका अस्तित्व सत्व से पहले आता है और जो अपनी किसी भी धारणा द्वारा समझाए जाने से पूर्व ही मौजूद है। वह है मनुष्य या जैसा कि हाइडेगर ने कहा है—मनुष्य के होने की यथार्थता। अस्तित्व सत्व से पूर्व आता है, इसका हम क्या अर्थ लेते हैं ? हम समझते हैं कि सबसे पहले मनुष्य का अस्तित्व है, फिर वह स्वयं अपने से संघर्ष करता है और विश्व में अपनी जगह तलाशता है, तत्पश्चात् वह अपने को परिभाषित करता है। अस्तित्ववादी के अनुसार, यदि मनुष्य परिभाष्य नहीं है तो इसका कारण यह है कि आरंभ में वह कुछ भी नहीं था। बाद में भी वह कुछ नहीं होगा और वह वही बनेगा जैसा वह अपने को बनाना चाहेगा। इसलिए मानव प्रकृति जैसी कोई चीज नहीं है क्योंकि इसकी धारणा बनाने के लिए कोई ईश्वर नहीं है। सीधी वात यह है कि मनुष्य है। वह अपने बारे में जैसा सोचता है, वैसा नहीं होता। बल्कि वैसा होता है जैसा वह संकल्प करता है, अपने होने के बाद ही वह अपने वारे में सोचता है—वैसे ही अपने अस्तित्व की ओर वढ़ने के बाद ही वह अपने बारे में संकल्प करता है। मनुष्य इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है जैसा खुद को बनाता है कि वह स्वयं का निर्माण करता है। यही अस्तित्ववाद का पहला सिद्धांत है। यही वह है जिसे लोग इसकी आत्मपरकता कहकर हमारी निंदा करते हैं। परंतु हम इसके द्वारा यह अर्थ लेते हैं कि मनुष्य की गरिमा एक पत्थर और मेज से अधिक है। चूंकि हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि मूलभूत रूप में मनुष्य का अस्तित्व है, कि सबसे पहले मनुष्य एक ऐसी वस्तु है जिसके अंदर कोई शक्ति उसे भविष्य की ओर गतिमान करती है और उसको उसका ज्ञान भी होता है कि वह आगे की ओर बढ़ रहा है। वस्तुतः मनुष्य आत्परक जीवन जीने का अधिकारी है वह कोई काई, फफूंदी या फूलगोभी की तरह नहीं है। उस आत्म-प्रक्षेपण से पहले कुछ भी अस्तित्वमान नहीं है; यहां तक कि बुद्धि के स्वर्ग में भी नहीं। मनुष्य अपने अस्तित्व को तभी पाएगा जव वह जैसा उसने संकल्प किया था वैसा हो जाता है। न कि वैसा जैसी वह इच्छा करता है। चूंकि आम तौर पर हम इच्छा या संकल्प से जो समझते हैं वह सजग निर्णय लेना है और उसी के अनुसार हम अपने को बनाते हैं। मैं एक पार्टी में सम्मिलित होने की, किताब लिखने की या शादी करने की इच्छा कर सकता हूं। किंतु ऐसी स्थिति में सामान्यतः मेरा संकल्प पूर्व और अधिक सहज निर्णय की संभाव्य अभिव्यक्ति है। लेकिन यदि यह सत्य है कि अस्तित्व सत्व का पूर्ववर्ती है, तो मनुष्य जैसा भी है, उसके लिए स्वयं जिम्मेदार है। इस प्रकार, अस्तित्ववाद का सबसे पहला परिणाम

यह निकलता है कि यह मनुष्य को जैसा वह है, उस स्वयं पर वह अधिकार देता है और अपने अस्तित्व का सारा दायित्व उसके ही कंधों पर डालता है। जब हम कहते हैं कि मनुष्य स्वयं अपने प्रति ही उत्तरदायी है तब हमारे कहने का अर्थ यह नहीं है कि वह केवल स्वयं के प्रति ही उत्तरदायी है। बल्कि वह संपूर्ण मानव समाज के प्रति उत्तरदायी है। आत्मकपरकता को दो अर्थों में समझा जा सकता है और हमारे विरोधी उनमें से एक का ही राग अलापते हैं। "आत्मपरकता" का अर्थ एक ओर व्यक्ति स्वातंत्र्य है तो दूसरी ओर इसका अर्थ है कि मनुष्य मानवीय आत्मपरकता से ऊपर नहीं उठ सकता। दूसरा अर्थ अस्तित्ववाद के अधिक गहन अर्थ को व्यक्त करता है। जब हम यह कहते हैं कि मनुष्य स्वयं अपना चुनाव करता है तो हमारा तात्पर्य यह तो है ही कि हम में से प्रत्येक को स्वयं अपने लिए चुनाव करना चहिए। किंतु साथ ही साथ इसका तात्पर्य यह भी है कि जो चुनाव हमारे लिए है वह सबके लिए भी है। क्योंकि व्यक्ति जैसा अपने को बनाना चाहता है उसके लिए वह जो भी कर्म करता है उनमें से एक भी कर्म ऐसा नहीं है जो सर्जनात्मक न हो। साथ ही, मनुष्य जैसा होना चाहिए, उसपर उसका विश्वास ही उसकी मनुष्य की कल्पना का आधार होता है। उस या इस में से किसी को चुनना, साथ ही, चुनाव के महत्व को दर्शाता है क्योंकि हम बदतर का चुनाव करने में अक्षम होते हैं। जो हम चुनते हैं वही अच्छा है। और कुछ भी हमारे लिए अच्छा नहीं हो सकता, जब तक कि वह सबके लिए अच्छा न हो। और, यदि अस्तित्व सत्व से पूर्व घटित होता है और हम अपनी कल्पना के अनुरूप अपने को अस्तित्व में रखना चाहते हैं तो वह कल्पना सभी के लिए और संपूर्ण युग के लिए जिसमें हम रहते हैं, वैध है। इस तरह हमारी जिम्मेदारी जैसा हमने सोचा था उससे कहीं अधिक है, क्योंकि हमारा संबंध संपूर्ण मानव जाति से है। उदाहरण के लिए, यदि मैं एक मजदूर हूं तो मैं कम्युनिस्ट ट्रेड यूनियन की बजाय ईसाई ट्रेड यूनियन का सदस्य बनना ज्यादा पसंद कर सकता हूं। और इसका सदस्य होने के नाते, यदि मैं इस बात को महत्व दूं कि निरासक्ति (resignation) अंततः सर्वोत्तम मार्ग है और मनुष्य का साम्राज्य पृथ्वी पर नहीं है तो इस बात से मैं अकेला ही प्रतिबद्ध नहीं हूं। प्रत्येक व्यक्ति के लिए निरासक्ति की भावना मेरी कामना है, और परिणामतः संपूर्ण मानव जाति की ओर से मेरा कर्म मेरी प्रतिबद्धता है। अथवा एक व्यक्तिगत उदाहरण लें, यदि मैं शादी करने और घर बसाने का निर्णय करता हूं तो हालांकि मैं यह फैसला अपनी परिस्थिति, मनोवेग और इच्छा के कारण लेता हूं, फिर भी ऐसा करके न सिर्फ अपने आपको बल्कि संपूर्ण मानव समाज को एक पत्नीव्रत की प्रथा से प्रतिबद्ध करता हूं। इस प्रकार

मैं अपने और संपूर्ण मानव जातियां के प्रति उत्तरदायी होता हूं। और मैं मनुष्य के ऐसे स्वरूप का निर्माण कर रहा हूं जैसा कि मैं उसे बनाना चाहता हूं। अपने आपको बनाने की प्रक्रिया में, मैं मनुष्य का निर्माण करता हूं।

इससे हम समझ सकते हैं कि मनोव्यथा (anguish), व्यवहार स्वच्छंदता (abandonment) और नैराश्य (despair) आदि शब्दों—जो शायद कुछ हद तक शब्दाडंबर है—का क्या तात्पर्य है ? जैसा कि आप पाएंगे, उत्तर स्पष्ट है। सबसे पहले हम यह सोचें कि मनोव्यथा से हमारा क्या अभिप्राय है ? अस्तित्ववादी बेझिझक कहता है कि मनुष्य मनोव्यथा से पीड़ित है। इससे उसका तात्पर्य यह है कि जब एक व्यक्ति यह अनुभव करते हुए कि वह केवल उसका ही चुनाव नहीं कर रहा है जो वह होगा, अपितु इसके साथ ही एक विधायक के रूप में संपूर्ण मानव जाति के लिए निर्णय ले रहा है तो अपने को किसी के प्रति प्रतिबद्ध करता है। ऐसे क्षणों में वह मनुष्य गहन और पूर्ण दायित्व-बोध से भाग नहीं सकता। वास्तव में बहुत से लोग हैं जो ऐसी चिंता नहीं दिखाते। किंतु हम दृढ़ता से कहते हैं कि वे केवल अपनी मनोव्यथा को छिपाते हैं या वे उससे पलायन कर रहे होते हैं। निश्चित रूप से बहुत से लोग सोचते हैं कि जो कुछ वे करते हैं उसके लिए वे खुद जिम्मेदार हैं, कोई अन्य नहीं। और अगर आप उनसे पूछें कि ''यदि सभी ऐसा करने लगे तो क्या होगा ?'' वे कंधे उचकाते हुए उत्तर देते हैं, ''सब कोई ऐसा नहीं करते?'' किंतु सच में प्रत्येक को अपने आपसे पूछना चाहिए कि यदि सभी ऐसा करने लगें जैसा कि उसने किया है, तो क्या होगा ? न ही कोई एक प्रकार की आत्म-प्रवंचना के सिवा इस बेचैन करने वाली विचारधारा से बच सकता है। वह मनुष्य जो अपने बचाव में यह कहता है कि ''कोई भी ऐसा नहीं करेगा'', उसे उस मिथ्या कर्म के लिए जिसमें सार्वभौम मूल्य निहित हैं और जिसे वह अस्वीकारता है अपने अंतःकरण में व्याकुल रहना होगा। यह छद्म करके उसकी मनोव्यथा अपने आपको प्रकट कर देती है। यही वह मनोव्यथा है जिसे कीर्केगार्द ने ''अब्राह्म की मनोव्यथा'' कहा है। आपने यह कहानी सुनी ही है : एक देवदूत ने अब्राहम को अपने बेटे की बलि देने की आज्ञा दी। यदि वह वास्तव में एक देवदूत था, जिसने आकर कहा, ''अब्राहम तू अपने बेटे की बलि दे'' तो आज्ञापालन अनिवार्य था। किंतु ऐसी स्थिति में कोई भी पहले संदेह करेगा कि क्या वास्तव में वह देवदूत था और दूसरे, क्या मैं ही वास्तविक अब्राहम हूं। इसके क्या प्रमाण हैं ? एक विक्षिप्त औरत मतिभ्रम रोग से पीड़ित थी, कहा करती थी कि लोग उसे टेलीफोन करते हैं और उसे आदेश देते हैं। जब डॉक्टर ने उससे पूछा, ''लेकिन तुमसे कौन बात करता है ?'' उसने उत्तर दिया,

"वह कहता है कि वह भगवान है।" और वास्तव में उसके पास ऐसा कौन-सा प्रमाण था जिसके कारण उसने कहा कि वह ईश्वर ही था ? यदि देवदूत मुझे दिखाई देता है तो इसका क्या प्रमाण है कि वह देवदूत ही है; या यदि मैं आवाज सुनता हूं तो कौन सिद्ध कर सकता है कि वह आवाज स्वर्ग से ही आती है, नरक से नहीं, या वह आवाज मेरे अवचेतन से आती है अथवा किसी रोग के कारण ही मुझे सुनाई देती है ? और इसका ही क्या प्रमाण है कि वे संदेश मेरे ही लिए हैं ?

तब यह कौन कह सकता है कि मैं ही वह उपयुक्त व्यक्ति हूं जो अपनी इच्छानुसार मानव की जो मेरी धारणा है उसे मानव समाज पर लादने का अधिकारी हूं। मैं इसके लिए कोई प्रमाण नहीं दे सकता। मेरे संदेह को दूर करने वाला कोई भी संकेत मुझे नहीं मिल सकता। यदि आवाज मुझे सुनाई देती है तो ऐसी स्थिति में मुझे ही यह निर्णय करना है कि यह आवाज देवदूत की है या नहीं। यदि मैं समझता हूं कि अमुक कार्य अच्छा है, तो इस बात का फैसला लेने के लिए कि वह अच्छा है, बुरा नहीं, निर्णायक मैं ही हूं। इसका कोई प्रमाण नहीं है कि मैं अब्राहम हूं। फिर भी, मैं प्रतिक्षण ऐसे कार्य करने के लिए विवश हूं जो दूसरों के लिए अनुकरणीय हो। प्रत्येक व्यक्ति के साथ सब कुछ ऐसे घटित होता है कि मानो उसके कार्य की ओर संपूर्ण मानव जाति की दृष्टि लगी हो और उसी के अनुकूल उसका आचरण नियमित होता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने आप से पूछना चाहिए कि "क्या मैं ही वह उपयुक्त व्यक्ति हूं जिसको इस ढंग से कार्य करने का अधिकार है जिससे मानवता नियमित होती है।" यदि कोई व्यक्ति ऐसा नहीं सोचता है तो वह अपनी मनोव्यथा को छुपाता है। स्पष्ट रूप से, यहां जिस मनोव्यथा से हम चिंतित हैं, वह निवृत्ति या निष्क्रियता को नहीं बढ़ाती। यह वह सीधी-सादी और पवित्र मनोव्यथा है जिससे वे सभी लोग जो अपने उत्तरदायित्व को निभाते हैं, पूर्ण रूप से परिचित हैं। उदाहरण के लिए, जब एक सेनानायक आक्रमण करने और बहुत से लोगों को मौत के मुंह में भेजने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है तो वह ऐसा करने का चुनाव करता है और वह अकेला ही यह चुनता है। निस्संदेह वह ऐसा अपने से उच्च अधिकारी के आदेशानुसार करता है; परंतु उच्च अधिकारी के निर्देश सामान्य होते हैं, उनको आवश्यकता और समयानुकूल व्यवहार में लाने का काम उसका है और उसके फैसले पर ही उन दस-बीस लोगों का जीवन निर्भर करता है। ऐसा निर्णय लेते समय निश्चय ही वह मनोव्यथा का सामना किए बिना नहीं रह सकता। सभी नायक इस मनोव्यथा से परिचित होते हैं। यह मनोव्यथा उनको कार्य करने से रोक नहीं सकती, ठीक इसके विपरीत, उनके कार्य की यह अनिवार्य शर्त है। क्योंकि किसी कार्य का होना

इस बात को मान लेना है कि कई संभावनाएं हैं और उनमें से एक का चयन करने में, वे इस बात को समझते हैं कि इसका मूल्य इसी में है कि इसका चयन किया गया है। इसी प्रकार की मनोव्यथा के बारे में अस्तित्ववाद जिक्र करता है और इस प्रकार, जैसा कि हम देखेंगे यह मनोव्यथा उन दूसरे लोगों के प्रति प्रत्यक्ष दायित्व द्वारा व्यक्त होती है, जो चिंतित हैं। अतएव कहा जा सकता है कि मनोव्यथा हमें कर्म से अलग करने वाला पर्दा नहीं बल्कि हमारे कर्म की शर्त है।

तथा जब हम ''व्यवहार स्वच्छंदता'' (abandonment) की बात करते हैं, जो हाइडेगर का प्रिय शब्द है, हमारा सिर्फ इतना मतलब होता है कि ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं है और तब यह देखना आवश्यक हो जाता है कि ईश्वर को न मानने का अंततोगत्वा क्या परिणाम होगा। अस्तित्ववादी दृढ़तापूर्वक एक प्रकार की धर्म-निरपेक्ष नैतिकता का विरोधी है जो कम से कम खतरे को उठाकर ईश्वर संवंधी विचारों को दबाना चाहती है। 1880 के आसपास जब फ्रांस के प्रोफेसरों ने धर्म-निरपेक्ष नैतिकता को सूत्रबद्ध करने का प्रयत्न किया तव उन्होंने भी कुछ ऐसा ही कहा था: ईश्वर एक अनुपयोगी और मंहगी परिकल्पना है, इसलिए हम अपना काम इसके विना चला लेंगे। लेकिन यदि हम चाहते हैं कि नैतिकता, समाज और कानून के अनुसार चलने वाला एक संसार वना रहे तो कछ मूल्यों को गंभीरतापूर्वक लेना जरूरी हो जाता है। तब इन मूल्यों को अधिक महत्व देना आवश्यक होगा। यह सोचना प्राथमिक आवश्यकता है कि हम ईमानदार हों, झूठ न बोलें, पत्नी को न पीटें, अपने वच्चों का पालन-पोषण करें आदि-आदि। इसलिए हम इस विषय पर थोड़ा विचार करने जा रहे हैं जिससे हम यह समझ सकेंगे कि ये मूल्य वास्तव में हैं और बुद्धिगम्य स्वर्ग में अंतर्निहित हैं, हालांकि वहां ईश्वर नहीं हैं। दूसरे रूप में, मेरे विचार से यह वही वात है जिसे फ्रांस में उग्र सुधारवाद कहते हैं—यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो कुछ नहीं वदलेगा : हम ईमानदारी, प्रगति और मानवता के उन्हीं मानकों की खोज पुनः कर लेंगे और हम ईश्वर के विचार को एक बीते युग की परिकल्पना कहकर छोड़ चुके होंगे जो धीरे-धीरे स्वयं समाप्त हो जाएगी। इसके विपरीत, अस्तित्ववादी जव यह सोचते हैं कि ईश्वर नहीं है तो वे अधेड़बुन में पड़ जाते हैं क्योंकि ईश्वर के अस्तित्व की समाप्ति के साथ ही बुद्धिगम्य स्वर्ग में अंतर्निहित मूल्यों के प्राप्त होने की संभावना भी खत्म हो जाती है। कोई भी अच्छे को प्राथमिकता नहीं देगा क्योंकि ऐसा सोचने के लिए अनंत और पूर्ण चेतना नहीं है। ऐसा कहीं भी नहीं लिखा है कि ''अच्छे'' का अस्तित्व है, कि प्रत्येक को ईमानदार होना चाहिए या झूठ नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि इस स्थिति में हम सब एक ऐसे धरातल पर

है जहां केवल मनुष्य है। दोस्तोव्स्की ने एक जगह लिखा है, "यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो कुछ भी करने की पूरी छूट है।" और यही अस्तित्ववाद का प्रारंभिक बिंदु है। वास्तव में यदि ईश्वर नहीं है तो स्वेच्छाचारिता की खुली छूट मिल जाती है और नतीजतन मनुष्य हताश हो जाता है क्योंकि अपने सहारे के लिए वह न तो अपने अंतर्मन में और न ही बाह्य जगत में कुछ पा सकता है। उसे तुरंत महसूस होता है कि अब उसके पास कोई बहाना नहीं रहा है। यदि सचमुच, अस्तित्व सत्व से पूर्व आता है तो कोई भी प्रदत्त एवं विशिष्ट मानव प्रकृति के संदर्भ में किसी भी व्यक्ति के कार्यों की विवेचना कभी नहीं कर पाएगा। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि नियतिवाद जैसी कोई वस्तु नहीं है—मनुष्य मुक्त है, मनुष्य मुक्ति है। दूसरी ओर, यदि ईश्वर नहीं है तो हमारे व्यवहार को वैध ठहराने के लिए कोई मूल्य या आदेश उपलब्ध नहीं हो सकेंगे। इस प्रकार, मूल्यों के ज्योतिर्मय क्षेत्र में आगे या पीछे कहीं पर भी उन्हें न्यायसंगत ठहराने का कोई साधन या बहाना नहीं मिलता। बिना किसी बहाने के हम निपट अकेले रह जाते हैं। जब मैं कहता हूं कि मनुष्य स्वतंत्र होने के लिए अभिशप्त है, तो मेरे कहने का यही अभिप्राय है। अभिशप्त इसलिए कि उसने अपने को जन्म नहीं दिया, फिर भी मुक्त है और जिस क्षण से वह दुनिया में आया है तब से वह जो करता है उसके लिए स्वयं उत्तरदायी है। अस्तित्ववादी भावावेग की शक्ति में यकीन नहीं रखता। वह प्रबल आवेश को एक विनाशकारी धारा कभी नहीं मानेगा जिसके बहाव में मनुष्य कुछ कर्म करता है, जैसे कि वह भाग्य के अधीन हो और जो उसके कर्मों के लिए बहाना बन जाता है। वह सोचता है कि मनुष्य स्वयं अपने भावावेग के लिए जिम्मेदार है। न ही कभी अस्तित्ववादी यह सोचेगा कि किसी भी व्यक्ति को इस पृथ्वी पर अपने उचितानुचित का फैसला करने के लिए किसी संकेत से कोई सहायता मिलेगी क्योंकि वह सोचता है कि मनुष्य उस संकेत को खुद ही व्याख्यायित करता है। वह यह सोचता है कि प्रत्येक मनुष्य बिना किसी अनुमोदन और सहयोग के इस बात के लिए अभिशप्त है कि वह हर क्षण नए मानव का आविष्कार करता है। पोंजे ने एक बहुत अच्छा लेख लिखा है, 'मनुष्य ही मनुष्य का भविष्य है'। यह पूर्ण सत्य है। लेकिन यदि कोई इसे इस अर्थ में लेता है कि भविष्य स्वर्ग में है और ईश्वर ही जानता है कि वह कैसा है तो यह बात मिथ्या होगी क्योंकि तब वह भविष्य ही नहीं रहेगा। लेकिन अगर इसका यह अर्थ है कि मनुष्य जिस रूप में भी हमें अभी प्रतीत होता है, उसके लिए एक भविष्य है जिसे साकार करना है, एक अक्षत भविष्य जो उसकी प्रतीक्षा करता है—तब यह कथन सत्य है। परंतु वर्तमान में मनुष्य परित्यक्त-सा है।

एक उदाहरण द्वारा आप बेहतर ढंग से "व्यवहार स्वच्छंदता" शब्द को समझ सकते हैं। मैं अपने एक शिष्य के बारे में बताऊंगा जो निम्नलिखित परिस्थितियों में मेरे पास आया था। उसका पिता, उसकी मां से लड़ता था, तथा राष्ट्र-विरोधी ताकतों की ओर भी उसका झुकाव था; उसका बड़ा भाई 1940 के जर्मन आक्रमण में मारा जा चुका था। और वह युवक कुछ-कुछ आदिम परंतु उदार भावनाओं का था और उसके अंदर बदले की भावना भी तीव्र थी। उसकी मां उसके साथ अकेली रहती थी तथा उसके पिता के आंशिक विश्वासघात और अपने बड़े पुत्र की मृत्यु से गहन शोकग्रस्त थी। उसका एकमात्र दिलासा वह युवक था। किंतु उसे इस क्षण यह चुनाव करना था कि वह इंगलैंड जाकर स्वतंत्र फ्रांस बलों में शामिल हो या अपनी मां के पास रहकर उसको जीने में मदद दे। वह स्पष्ट अनुभव करता था कि मां सिर्फ उसके लिए जी रही है और उसके चले जाने से या शायद उसकी मौत से, वह गहरी निराशा में डूब जाएगी। उसे यह भी अहसास था कि वस्तुतः अपनी माता के लिए किया हुआ प्रत्येक कार्य ठोस रूप में, उसकी मां को जीवित रखने में मददगार होगा। इस स्थिति में कोई भी ऐसा कार्य जो उसके जाने से या युद्ध से संबंधित होगा, अस्पष्ट होगा और इस प्रकार मिट जाएगा, जैसे बालू में पानी और उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। उदाहरण के लिए, इगलैंड जाने के लिए उसे स्पेन होकर जाना होगा और तव उसे स्पेनिश कैंप में अनिश्चित काल के लिए इंतजार करना पड़ सकता है अथवा इंगलैंड या अल्जीरिया पहुंचने पर उसको ऑफिस में ही फार्म भरने के काम में लगाया जा सकता है। परिणामतः उसने अपने आपको दो नितांत भिन्न विकल्पों के बीच उलझा हुआ पाया। उनमें से एक स्पष्ट और तत्काल सिद्ध होने वाला था किंतु केवल व्यक्ति विशेष से ही संबंधित था; और दूसरा सामूहिक राष्ट्रीय लक्ष्य को लिए हुए था जो अपेक्षाकृत अधिक महान् था परंतु इसी कारण वह अस्पष्ट भी था और उसके बीच में ही कुंठित हो जाने की संभावना थी। साथ ही, वह दो भिन्न प्रकार की नैतिकताओं में उलझा हुआ था। एक ओर सहानुभूति और व्यक्तिगत श्रद्धा की नैतिकता थी तो दूसरी ओर नैतिकता का क्षेत्र अधिक विस्तृत था परंतु उसकी वैधता विवादास्पद थी। उसे इन दो में से चयन करना था। वह क्या हो सकता था जो चुनाव में उसकी सहायता कर सके ? क्या ईसाई मत उसकी सहायता कर सकता था ? ईसाई मत कहता है : सौहार्दपूर्ण व्यवहार करो, अपने पड़ोसी से प्यार करो, दूसरे के हित में त्याग करो, उस मार्ग को अपनाओ जो अधिक कठिन हो, आदि-आदि। परंतु प्रश्न उठता है कि कठिन मार्ग कौन-सा है ? भ्रातृत्व-प्रेम किसके लिए अधिक हो—देश के लिए या माता के लिए ? कौन-सा लक्ष्य अपेक्षाकृत

अधिक उपयोगी है--संपूर्ण समुदाय में और उसके लिए लड़ने का सामान्य लक्ष्य या व्यक्ति विशेष को जीवित रखने में योगदान देने का स्पष्ट लक्ष्य ? किसको प्राथमिकता दी जाए, इसका उत्तर कौन दे सकता है ? कोई भी नहीं। न इसका उत्तर नीति-ग्रंथों में ही मिल सकता है। कांटवादी नीतिशास्त्र कहता है—दूसरों को साधन नहीं, अपितु सदैव साध्य मानो। बहुत अच्छा, अगर मैं अपनी मां के पास रह जाऊं तो ऐसी स्थिति में मां को साध्य मान रहा होऊंगा, न कि साधन। किंतु दूसरी ओर, मुझे भय है कि मैं उन लोगों को जो मेरी ओर से लड़ रहे हैं, साधन मान रहा होऊंगा तथा इसका विलोम भी सत्य है। युद्धरत सैनिकों की मदद के लिए जाता हूं तो ऐसी स्थिति में उन सैनिकों को साध्य मान रहा होऊंगा और माता को साधन के रूप में स्वीकार करूंगा।

यदि मूल्य अनिश्चित हैं, अभी तक इतने अमूर्त हैं कि वे किसी विशेष विचाराधीन मामले को निश्चित नहीं कर सकते तो हमारे लिए अपनी सहज वृत्ति पर विश्वास करने के अलावा और कोई चारा नहीं रहता। यही उस युवक ने करने की कोशिश की और जब मैं उससे मिला, उसने कहा, "अंततः वह संवेदना ही है जो मूल्यवान है तथा यह जिस ओर मेरा मार्गदर्शन कर रही है, वही सही दिशा है जो मुझे चुननी है। यदि मैं अनुभव करता हूं कि मैं अपनी मां से इतना प्यार करता हूं कि उसके लिए मैं सब कुछ (मेरी बदले की भावना, कार्य और साहस दिखाने की मेरी सभी इच्छाओं को) न्यौछावर कर सकता हूं तो मैं उसके पास रहूंगा। ठीक इसके विपरीत, यदि मैं महसूस करता हूं कि मां के लिए मेरा प्यार पर्याप्त नहीं है तो मैं चला जाऊंगा।" किंतु कोई संवेदना की ताकत को कैसे नापे ? माता के प्रति उसकी संवेदना साफ तौर पर इस तथ्य से तय होती है कि संकट की घड़ी में उसने हमेशा उसका साथ दिया है। मैं कह सकता हूं कि मैं अपने दोस्त से इतना प्यार करता हूं कि उसके लिए इतना या उतना धन त्याग सकता हूं। किंतु इस बात को मैं तब तक साबित नहीं कर सकता जब तक कि मैं ऐसा कर नहीं दूं। यदि मैं सचमुच अपनी माता के पास रह चुका हूं, तब ही कह सकता हूं कि "मैं अपनी माता के पास रहने के लिए पर्याप्त स्नेह रखता हूं।" यदि मैंने कोई ऐसा कार्य किया है जिसके द्वारा वह स्नेह परिभाषित और प्रमाणित होता हो, तब ही मैं उस स्नेह की शक्ति का अनुमान लगा सकता हूं। किंतु यदि मैं अपने कार्यों को औचित्यपूर्ण साबित करने के लिए इस स्नेह के लिए अनुरोध करूं तो मैं खुद को एक दुष्चक्र में घिरा पाता हूं।

इसके अलावा, जैसा कि (आंद्रे) जीद ने बहुत अच्छी तरह कहा है, वह मनोभाव जो अभिनय हैं और दूसरा जो जीवन के लिए अति आवश्यक है—ऐसे दो भाव है

जिन्हें एक-दूसरे से अलग पहचान पाना काफी मुश्किल है। मां के पास रहकर ही यदि मैं समझ बैठूं कि माता को प्यार करता हूं या ऐसा अभिनय करूं जिसका उद्देश्य मां के प्रति प्रेम प्रदर्शित करना हो, तो ये दोनों कृत्य लगभग एक से ही होंगे। दूसरे शब्दों में, संवेदना उन कार्यों द्वारा निर्मित होती है जिन्हें कोई मनुष्य करता है। अतः कार्य के पथ प्रदर्शन के लिए मैं इस पर आश्रित नहीं रह सकता। और इसका अर्थ यह है कि मैं न तो अपने अंतर से कार्य के लिए प्रेरणा प्राप्त कर सकता हूं और न ही किसी नैतिक सूत्र से ही कुछ आशा कर सकता हूं जो मुझे कार्य के योग्य बनाएगा। आप कह सकते हैं कि वह नौजवान आखिरकार सलाह के लिए किसी प्रोफेसर के पास गया ही। किंतु यदि आप सलाह चाहते हैं—उदाहरण के लिए आप किसी पुरोहित से सलाह लेते हैं—इसका मतलब यह है कि आपने परामर्श के लिए पुरोहित को चुना है और साथ ही आपका अंतरमन थोड़ा-बहुत अवश्य जानता था कि वह क्या सलाह देगा। दूसरे शब्दों में, परामर्शदाता का चयन करना, उसकी इच्छा से अपने को प्रतिबद्ध करना है। यदि आप ईसाई हैं तो कहेंगे कि पुराहितं से सलाह लो। लेकिन वे दो तरह के हैं—एक वे पुरोहित जो प्रतिरोध करने के लिए कहते हैं और दूसरे वे जो समय बदलने तक इंतजार करने की सलाह देते हैं : आप इनमें से किसका चयन करेंगे ? यदि वह युवक प्रतिरोध करने वाले पुरोहित को या शत्रु समर्थक पुरोहित को चुनता तो वह परामर्श प्राप्त होने से पहले ही फैसला कर लेता कि उसे क्या सलाह मिलेगी ? इसी प्रकार मेरे पास आने पर वह जानता था कि मैं उसको क्या सलाह दूंगा और मेरे पास देने के लिए एक ही उत्तर था—तुम स्वतंत्र हो, इसलिए खुद फैसला लो, अर्थात् खुद रास्ता बनाओ। सामान्य नैतिकता का कोई भी नियम नहीं बता सकता कि आपको क्या करना चाहिए; इसके लिए विश्व में कोई निश्चित मार्ग नहीं है। काथलिक उत्तर देंगे, "किंतु रास्ता तो है।" बहुत अच्छा; प्रत्येक स्थिति में वह मैं ही हूं जिसे संकेतों को समझना है। जब मैं जेल में था, तब मेरा परिचय एक महत्वपूर्ण व्यक्ति से हुआ जो जेसुइट था तथा जिसके जेसुइट दल का सदस्य बनने की कहानी इस प्रकार है—उसको अपने जीवन में लगातार एक के बाद दूसरी असफलताएं मिलीं। जब वह बच्चा था, तब ही उसके पिता उसे गरीबी की अवस्था में छोड़कर चल बसे। उसे एक धार्मिक संस्था के द्वारा छात्रवृत्ति प्राप्त हुई, जहां उसे निरंतर यह अहसास कराया जाता रहा था कि वह दया और दान पर जी रहा है और नतीजतन उन सभी सम्मान और विशिष्टताओं से उसे वंचित रखा गया था जो दूसरे लड़कों को हासिल थीं। बाद में जब वह अठारह वर्ष का हुआ, उसे प्रेम में असफलता प्राप्त हुई और अंत में बाईस वर्ष की अवस्था में वह

सैन्य परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गया। यह साधारण बात थी परंतु इसके कारण उसके व्यथित हृदय में तूफान-सा उमड़ पड़ा। तब वह नौजवान अपने को पूरी तरह से असफल मान सकता था : यह संकेत था परंतु किस ओर इंगित करता था ? वह कटुता और निराशा में अपने को डूबो सकता था। किंतु उसने—बड़ी चतुरतापूर्वक—इस बात का संकेत माना कि वह लौकिक सफलताओं के लिए नहीं बना है और केवल धर्म का क्षेत्र ही उसका अधिकार क्षेत्र है। उसकी पवित्रता और आस्था ही उसके लिए सुगम है। उसने अपने उक्त जीवन को ईश्वर का संदेश समझा और वह जेसुइट दल का सदस्य हो गया। संकेत के अर्थ के बारे में जो निर्णय उसने लिया, वह उसका ही था, किसी अन्य का नहीं, इसमें कौन संदेह कर सकता है ? लगातार संकटों से प्रभावित होकर कोई दूसरा इन्हीं परिस्थितियों में बिल्कुल भिन्न फैसले ले सकता था। मसलन, वह बढ़ई या क्रांतिकारी हो सकता था। लेकिन इस घटनाचक्र का अर्थ लगाने की पूरी जिम्मेदारी उसी पर है। "व्यवहार स्वच्छंदता" का यही अर्थ है कि हम खुद अपने निर्माता हैं। और इस व्यवहार स्वच्छंदता के साथ ही मनोव्यथा खत्म हो जाती है।

जहां तक "नैराश्य" (despair) का सवाल है इसका अर्थ अत्यंत सरल है। इसका सिर्फ यह तात्पर्य है कि हम अपने आपको उस विश्वास तक ही सीमित कर दें जो हमारी संकल्पनाओं अथवा समस्त संभावनाओं में निहित है जो हमारे कार्य को संभव बनाता है। जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु का संकल्प करता है तो हमेशा संभावनाओं के ये तत्व विद्यमान रहते हैं। अगर मैं किसी दोस्त के आने का इंतजार कर रहा हूं जो रेलगाड़ी या ट्राम से आ रहा है तो मैं पहले से मानकर चलता हूं कि रेल नियत समय पर आएगी और ट्राम पटरी से नहीं उतरेगी। लेकिन मैं संभावनाओं के क्षेत्र में रहता हूं। परंतु कोई भी उन संभावनाओं पर विचार नहीं करता, जो हमारे कार्यों से सीधे संबंध के दायरे से बाहर है। उस से परे हम उन विचाराधीन संभावनाओं में रुचि नहीं दिखा सकते जो हमारे क्रियाकलापों को प्रभावित नहीं करतीं। क्योंकि न तो ईश्वर है और न ही उसकी कोई ऐसी पूर्वनियोजित योजना है जो विश्व और उसकी संपूर्ण संभावनाओं को मेरी इच्छा के अनुकूल ढाल सके। जब देकार्त ने कहा, "संसार को जीतने की बजाय स्वयं को जीतो" तब उसका मूलतः यही तात्पर्य था कि हम आशा से मुक्त होकर कार्य करें।

जिन मार्क्सवादियों से मैंने ये बात कही, वे इसका उत्तर यों देते हैं, "स्पष्ट ही, आपके कार्य आपकी मृत्यु द्वारा सीमित कर दिए गए हैं, किंतु आप दूसरों की मदद पर भरोसा कर सकते हैं। अर्थात् पहले तो आप उन पर भरोसा कर सकते हैं जो

आपकी इस समय कहीं और मदद कर रहे हैं, जैसे कि चीन में और रूस में तथा दूसरे उन पर जो आपकी मृत्यु के बाद आपके कार्य को अपने हाथ में लेंगे और तब तक उसे जारी रखेंगे जब तक कि इस कार्य का लक्ष्य पूरा नहीं हो जाता और वह लक्ष्य क्रांति होगा। बल्कि आपको उन पर विश्वास करना ही होगा, ऐसा न करना अनैतिक होगा।" इसके जवाब में, सबसे पहले मैं यह कहूंगा कि मैं हमेशा अपने साथियों पर किसी संघर्ष में उस सीमा तक भरोसा करूंगा, जहां तक वे उस निश्चित और सामूहिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मेरे समान ही प्रतिबद्ध हैं तथा मैं उस पार्टी या दल की एकता पर भी भरोसा करूंगा जिसपर मेरा करीव-करीब नियंत्रंण है अर्थात् जिसका मैं एक नामजद कार्यकर्त्ता हूं और जिसकी प्रत्येक गतिविधि से मैं परिचित हूं। इस संदर्भ में पार्टी की एकता और उसके संकल्प पर विश्वास करना विल्कुल उसी प्रकार है जैसा मेरा यह सोचना कि रेल समय पर आएगी और ट्राम पटरी पर से नहीं उतरेगी। परंतु मैं उन लोगों पर भरोसा नहीं कर सकता जिनको मैं नहीं जानता। यह जानते हुए कि मनुष्यं स्वतंत्र है और कोई ऐसी मानव प्रकृति नहीं है जिसे वुनियादी समझा जा सके, मैं इंसानी अच्छाई पर या समाज कल्याण में मानवीय रूचि आदि वातों पर अपने विश्वास की नींव खड़ी नहीं कर सकता। मैं नहीं जानता कि रूस की क्रांति हमें कहां ले जाएगी। मैं इसकी प्रशंसा करता हूं और रूस की इस भूमिका को दूसरों के लिए भी अनुकरणीय मानता हूं। आज क्योंकि यह स्पष्ट दिखता है कि सर्वहारा वर्ग रूस में एक ऐसी भूमिका निभा रहा है जैसी उसने किसी दूसरे राष्ट्र में अर्जित नहीं की है। लेकिन मैं यकीनन नहीं कह सकता कि इसका नतीजा सर्वहारा वर्ग की विजय में निकलेगा। मुझे अपने को वहीं तक सीमित रखना चाहिए जहां तक मैं देख पाता हूं। उसी प्रकार, मैं विश्वास के साथ नहीं कह सकता कि मेरी मौत के वाद मेरे साथी मेरे काम को आगे ले ही जाएंगे और उसे पूर्ण पराकाष्ठा तक पहुंचाएंगे। विशेषकर यह देखते हुए कि वे स्वतंत्र मनुष्य हैं और भविष्य में स्वतंत्र रूप से फैसला करेंगे कि तब के इंसान को कैसा वनना है। कल मेरी मृत्यु के बाद कुछ लोग फासीवाद को स्थापित करने का निर्णय ले सकते हैं और दूसरे लोग इतने कायर या निष्क्रिय हो सकते हैं कि उन्हें वैसा करने दें। अगर ऐसा होता है तो फासीवाद ही मनुष्य का सत्य हो जाएगा। और यह हमारे लिए बेशक बुरी वात होगी। वास्तव में, होगा वैसा ही जैसा लोग निर्णय लेंगे कि उन्हें कैसा बनना है। इसका क्या यह अर्थ है कि मैं निष्क्रिय हो जाऊं ? नहीं। पहले मुझे प्रतिवद्ध होना चाहिए और फिर इस चिरसम्मानित सूत्र के अनुसार कि "किसी भी व्यक्ति को कार्य का दायित्व लेने के लिए आशा पर निर्भर नहीं करना

चाहिए।" मुझे अपनी प्रतिबद्धता को कार्य रूप देना चाहिए। लेकिन इसका सिर्फ़ यही तात्पर्य है कि मुझे भ्रांति-रहित होना चाहिए और मुझे वही करना चाहिए जो मैं कर सकता हूं। मसलन, यदि मैं अपने आपसे यह बात पूछता हूं, "क्या यह सामाजिक आदर्श यथार्थ बन सकेगा ?" मैं नहीं कह सकता। मैं सिर्फ इतना जानता हूं कि उसे यथार्थ बनाने के लिए जो कुछ मेरी शक्ति में है, वह मैं करूंगा। इससे परे मैं किसी पर भरोसा नहीं कर सकता।

निष्क्रियतावाद उन लोगों का रवैया होता है जो यह कहते हैं कि "वह काम दूसरों को करने दो जो मैं नहीं कर सकता।" जिस सिद्धांत को मैं आपके सामने पेश कर रहा हूं वह ठीक इसके विपरीत है क्योंकि वह घोषणा करता है कि कर्म के अलावा कुछ भी वास्तविक नहीं है। यही सिद्धांत और आगे जाकर कहता है, "मनुष्य कुछ नहीं है सिवाय उसके जो वह संकल्प करता है। जहां तक वह अपने को जान पाता है वहां तक ही उसका अस्तित्व है। अतएव वह अपने कर्मों का पुंज हैं, जो उसका जीवन है उसके सिवाय वह कुछ भी नहीं है।" अब हम भली-भांति समझ सकते हैं कि क्यों कुछ लोग हमारी शिक्षाओं से भयभीत होते हैं। क्योंकि बहुत से लोगों के पास दुःख में अपने आपको सांत्वना देने के लिए एक ही उपाय होता है और वह इस प्रकार से सोचना है, "परस्थितियां मेरे विरुद्ध हैं। जैसा मैं आज हूं उससे कहीं अधिक के में योग्य था। मैं यह स्वीकार करता हूं कि मैं सदैव महान् प्रेम और सच्ची दोस्ती से वंचित रहा, किंतु इसका कारण यह है कि मुझे इस योग्य कोई पुरुष या स्त्री नहीं मिली, अगर मैंने कोई अच्छी किताब नहीं लिखी तो इसलिए कि मुझे ऐसा करने के लिए फुरसत नहीं मिली अथवा यदि मेरे बच्चे नहीं हुए जिनके लिए मैं अपना जीवन अर्पित कर सकूं तो इसीलिए क्योंकि मुझे ऐसा जीवन-साथी नहीं मिला जिसके साथ मैं जीवन बिता सकूं। इसलिए मुझमें योग्यताएं, रूचियों और अंतःशक्तियों का विशाल भंडार मौजूद है जो काम नहीं आया था, जिसका उपयोग किया जा सकता था और जो मुझे वह योग्यता देता है, जिसका अनुमान मेरे कार्यों के इतिहास से नहीं लगाया जा सकता।" किंतु वास्तव में अस्तित्ववादी के लिए प्रेम के कृत्यों से अलग कोई प्रेम नहीं हैं। प्रेम की क्षमता वह है जो प्रेम करने में अभिव्यक्त होती है। कलाकृतियों में अभिव्यक्त होने वाली प्रतिभा से परे कोई प्रतिभा नहीं है। प्राउस्ट की संपूर्ण कृतियों में ही प्राउस्ट की प्रतिभा निहित है। त्रासदी की शृंखला ही रेसीन की प्रतिभा है, इससे परे उसमें कुछ भी नहीं है। हम रेसीन को एक और ऐसी त्रासदी लिखने का श्रेय कैसे दें जिसे कि उसने लिखा ही नहीं था। जीवन में, मनुष्य खुद को प्रतिबद्ध करता है, वह अपना व्यक्तित्व खुद

बनाता है और वह व्यक्तित्व ही सब कुछ है, इसके अलावा कुछ नहीं। निस्संदेह यह विचार उस मनुष्य को जिसने अपने जीवन में कोई सफलता हासिल नहीं की, दुःखप्रद मालूम हो सकता है। दूसरी ओर, यह प्रत्येक को उस स्थिति में ला खड़ा करता है जहां मनुष्य यह समझ पाता है कि केवल वास्तविकता ही विश्वसनीय है, मनुष्य को परिभाषित करने वाले सपने, अपेक्षाएं और आशाएं वस्तुतः झूठे सपने, अपूर्ण अपेक्षाएं तथा निष्फल आशाएं साबित होती हैं। अर्थात् ये सब उसका नकारात्मक रूप सामने रखती हैं, सकारात्मक रूप नहीं। फिर भी, जब कोई कहता है कि ''जैसा जीवन तुम व्यतीत करते हो उससे परे तुम कुछ नहीं हो'' तो इसका कतई यह मतलव नहीं है कि कलाकार की परख सिर्फ उसकी कलाकृतियों से की जाएं क्योंकि ऐसी हजारों बातें हैं जिनका मनुष्य के रूप में उसे परिभाषित करने में कम योगदान नहीं होता। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य उत्तरदायित्वों की एक श्रृंखला से अलग कुछ भी नहीं है। वह, पुंज है, वह संगठन है तथा उन संबंधों का समूह है जिससे किं उसके उत्तरदायित्व निर्मित होते हैं।

इस दृष्टि से विचार करते हुए लोग जिस बात के लिए हमें कोसते हैं वह हमारा निराशावाद नहीं बल्कि हमारे आशावाद की कठोरता है। यदि लोग हमारे कथा साहित्य की निंदा करते हैं जिनमें कि हम उन पात्रों का चित्रण करते हैं जो नीच, कमजोर, कायर और कभी-कभी वहुत स्पष्ट रूप में बुरे हैं तो वे ऐसा इसलिए ही नहीं करते हैं कि वे पात्र नीच, कमजोर, कायर और बुरे हैं। मान लीजिए कि ज़ोला की तरह हमने ये दिखाया होता कि इन पात्रों का आचरण उनकी आनुवंशिकता या उनके परिवेश की उनपर प्रतिक्रियाओं या मानसिक तथा शारीरिक कारणों का परिणाम था तो लोग आश्वस्त होकर कहेंगे, ''देखो, हम ऐसे ही हैं। इसमें कोई कुछ नहीं कर सकता। किंतु अस्तित्ववादी जब एक कायर को चित्रित करता है तो यह दिखाता है कि अपनी कायरता के लिए वह खुद जिम्मेदार है। उसके कायर होने में उसके फेफड़े, हृदय, मस्तिष्क आदि किसी प्रकार उत्तरदायी नहीं हैं। वह शारीरिक अवयवों के कारण कायर नहीं हुआ है बल्कि वह कायर इसलिए है क्योंकि उसने अपने कृत्यों द्वारा अपने आपको कायर बनाया है। कायरतापूर्ण मिज़ाज़ जैसी वस्तु दुनिया में कहीं नहीं है। अधीरतापूर्ण मिज़ाज़, कंगालपन की प्रकृति, या समृद्धि की चित्तवृत्ति तो सुनने में आती हैं। परंतु जो दरिद्र है वह कायर नहीं है बल्कि उसके अंदर कायरता जिस कारण से पैदा होती है वह है उसका कठिनाइयों के आगे हार मान लेना, उसे कठिन समझ कर छोड़ देना। तथा मिज़ाज़ कर्म नहीं है। कायर अपने कर्मों से कायर समझा जाता है। जिस बात के लिए लोग संत्रस्त और निराश हो जाते हैं वह यह

है कि हम कायर को जिस ढंग से पेश करते हैं उसमें वह खुद ही कायर होने का दोषी होता है। मनुष्य जन्म से ही कायर होना पसंद करेंगे या वीर होना। ''केमिन्स दे ला लिबर्टी'' (Chemins de la liberte) के विरुद्ध लगाए गए अनेक आरोपों में से एक आरोप कुछ इस प्रकार का है, ''जो लोग शुरू से ही नीच हैं, उन्हें आप कैसे वीर बनाएंगे ?'' यह आक्षेप वास्तव में हास्यास्पद है। क्योंकि इसमें यह अंतर्निहित है कि लोग वीर पैदा होते हैं, अंततः ऐसे लोग अपने को यही समझना पसंद करते हैं। यदि आप जन्म से ही कायर हैं तो आप कायरता से ही संतुष्ट रहेंगे, आप इसके लिए कुछ भी नहीं करेंगे और चाहे आप कुछ करें आप आजीवन कायर ही बने रहेंगे। तथा यदि आप जन्म से ही वीर हैं तो भी आप संतोष कर सकते हैं कि आप आजीवन वीर रहेंगे। वीरतापूर्वक खाएंगे, वीरतापूर्वक पीयेंगे। सदैव वीर रहेंगे। परंतु अस्तित्ववादी यह कहता है कि कायर अपने आपको कायर बनाता है और वीर अपने को वीर बनाता है। तथा हमेशा यह संभावना बनी रहती है कि कायर अपनी कायरता छोड़ दे और वीर वीरता छोड़ दे। एंक विशेष मामले या विशेष कार्य से प्रतिबद्धता नहीं बल्कि संपूर्ण प्रतिबद्धता ही महत्वपूर्ण है।

अब मैं सोचता हूं कि अस्तित्ववादियों के खिलाफ लगाए गए कुछ आरोपों का जवाब मैंने दे दिया है। आप देख चुके हैं कि अस्तित्ववाद निष्क्रियता का दर्शन नहीं है क्योंकि यह मनुष्य को कर्मों के आधार पर परिभाषित करता है। और न ही मनुष्य का निराशावादी विवरण है क्योंकि इस सिद्धांत से बढ़कर कोई अन्य सिद्धांत अधिक आशावादी नहीं हो सकता जो मनुष्य के भाग्य को उसके अपने हाथों में सौंप देता है। न ही यह मनुष्य को अकर्मण्य बनाने का प्रयास है क्यांकि यह उसे बताता है कि उसके लिए कर्म के अलावा कोई उम्मीद नहीं है और एकमात्र वस्तु जिस पर उसका जीवन टिका हुआ है, कर्म है। अतएव, इस स्तर पर हम कर्म और आत्म प्रतिबद्धता के नीतिशास्त्र पर विचार कर रहे हैं। फिर भी, हमें इस प्रकार की बातों के कारण निंदित किया जाता है कि हम मनुष्य को उसकी व्यक्तिगत आत्मपरकता में सीमित कर देते हैं। यहां भी लोग हमें गलत समझते हैं।

वास्तव में दूसरों से हमारे भिन्न होने का आधार है वैयक्तिक आत्मपरकता और इसका कारण असल में दार्शनिक है। इसलिए नहीं कि हम बूर्जुआ हैं बल्कि इसलिए कि हम अपनी शिक्षा को सत्य की बुनियाद पर खड़ा करते हैं न कि मोहक सिद्धांतों के संग्रह पर जो सिर्फ आशाओं से भरे होते हैं और जिनकी नींव बहुत खोखली होती है। जहां हम इस स्थिति से भिन्न होते हैं वहां *''मैं सोचता हूं अतएवं मैं हूं।''* इस सत्य से बढ़कर कोई सत्य नहीं है जो चेतना का ऐसा पूर्ण सत्य है जो अपने आप

में साध्य है। आत्मसिद्धि के इस क्षण से परे प्रत्येक वह सिद्धांत जो मनुष्य से आरंभ होता है, एक ऐसा सिद्धांत है जो इस कारण से ही सत्य को दबा देता है। क्योंकि देकार्तवादी *"मैं सोचता हूं"* के परे होने के कारण सभी लक्ष्य संभावना से अधिक कुछ नहीं है और वे संभावनाएं जो सत्य से संबद्ध नहीं हैं, अवश्य ही नष्ट हो जाएंगी। किसी भी संभावना को परिभाषित करने लिए सत्य का होना आवश्यक है। कोई भी सत्य, सत्य हो, इसकी सबसे पहली शर्त यह है कि वह निरपेक्ष सत्य हो और ऐसा सत्य जो सरल है, आसानी से प्राप्त किया जा सकता है और प्रत्येक व्यक्ति की पहुंच में है। किसी व्यक्ति के सहज ज्ञान में ही यह निरपेक्ष सत्य निहित है।

दूसरे, केवल यही सिद्धांत मनुष्य की गरिमा के अनुरूप है। यही अकेला ऐसा सिद्धांत है जो मनुष्य को वस्तु नहीं बना देता। सभी प्रकार के भौतिकवाद हमें अपने आप समेत मनुष्य को वस्तु मानने की ओर ले जाते हैं अर्थात् मनुष्य पूर्वनियत प्रतिक्रियाओं का पुंज है जोकि किसी भी तरह उन गुणों और प्रतिभासों से अलग नहीं है जो मेज, कुर्सी और पत्थर में निहित है। स्पष्ट ही हमारा ध्येय भौतिक जगत् से भिन्न आदर्श मूल्यों के रूप में मानव-साम्राज्य को स्थापित करना है। लेकिन आत्मपरकता जिसे हम इस तरह सत्य के मानक के रूप में अभिग्रहीत करते हैं, संकीर्ण वैयक्तिक आत्मपरकता नहीं है। चूंकि जैसा हम देख चुके हैं, वह *"मैं सोचता हूं"* (cogito) में अपने आत्म-स्वरूप को नहीं खोजता बल्कि दूसरों के आत्म-स्वरूप को भी खोज लेता है। देकार्त और कांट के सिद्धांतों के प्रतिकूल जब हम यह कहते हैं, *"मैं सोचता हूं"* तब हम दूसरों की मौजूदगी में खुद अपने आपको प्राप्त कर रहे होते हैं और तब अपने बारे में जितना हमारा ज्ञान निश्चित होता है उतना ही दूसरों के बारे में। इस प्रकार व्यक्ति *"मैं सोचता हूं"* में अपने को खोजता है, साथ ही दूसरों को भी खोजता है और दूसरों की खोज स्वयं उसके अस्तित्व की शर्त है। वह यह समझ जाता है कि जब तक लोग उसे उस रूप में (अर्थात् अपने को आध्यात्मिक, पापी या ईर्ष्यालु के रूप में) पहचान नहीं लेते हैं, तब तक वह कुछ नहीं है। दूसरे की मध्यस्थता के बिना मैं अपने बारे में किसी सत्य को प्राप्त नहीं कर सकता। मेरे अस्तित्व के लिए दूसरों का होना उतना ही अपरिहार्य है जितना कि मेरे स्वयं के बारे में ज्ञान के लिए दूसरों का होना। इन परिस्थितियों में, मेरे स्वयं की अंतरंग खोज, साथ ही स्वतंत्रता के रूप में अन्य व्यक्ति की अभिव्यक्ति है जो मेरी स्वतंत्रता से टकराती है और जो मेरे पक्ष या विपक्ष में कुछ किए बिना न संकल्प कर सकती है और न सोच सकती है। इस प्रकार, हम खुद अपने को एक ऐसे संसार में पाते हैं जो कह सकते हैं कि "पारस्परिक आत्मपरकता" का

संसार है। यह वही संसार है जिसमें मनुष्य यह निर्णय करता है कि वह क्या है और दूसरे क्या हैं।

इसके अलावा, हालांकि प्रत्येक व्यक्ति में सार्वभौम सत्य को जिसे मानव प्रकृति कहा जा सकता है, पाना असंभव है, तथापि परिस्थिति की एक मानव सार्वभौमिकता होती है। यह मात्र संयोग नहीं है कि आज के विचारक मानव से कहीं अधिक उसकी परिस्थिति के बारे में बोलने को तत्पर रहते हैं। उसकी स्थिति को देखकर, वे किसी मनुष्य की विश्व में बुनियादी परिस्थिति को परिभाषित करने वाली सभी प्राक्-अपूर्णताओं को करीब-करीब स्पष्टतया समझ जाते हैं। उसकी ऐतिहासिक परिस्थितियां बदलती रहती है। कभी मनुष्य असभ्य समाज में दास के रूप में पैदा हो सकता है, तो कभी सामंत या सर्वहारा के रूप में। किंतु उसके इस संसार में होने की आवश्यकता—उसका श्रम करना और मर जाना—कभी नहीं बदलती। ये अपूर्णताएं न तो वस्तुगत हैं, न आत्मगत बल्कि इनमें दोनों का साहचर्य है। वस्तुगत इसलिए कि वे हमको हर जगह मिलती हैं और हर जगह उन्हें पहचाना जा सकता है तथा आत्मगत इसलिए कि हम उन्हीं के अनुसार जीवन-यापन करते हैं और उनके अनुसार जीवन-यापन न करें तो उनका अस्तित्व ही नहीं है। अर्थात्, दूसरे शब्दों में, वह अपने को और उनके साथ अपने संबंध को स्वतंत्र रूप से तय नहीं करता है। और भले ही मनुष्य के उद्देश्य अलग-अलग हों, कम से कम उनमें से कोई भी मेरे से पूरी तरह विजातीय नहीं है क्योंकि प्रत्येक मानव उद्देश्य अपने आपको एक प्रयास के तौर पर प्रस्तुत करता है जो या तो इन अपूर्णताओं पर विजय पाने के लिए होता है या उन्हें विस्तृत करने के लिए है या उनको अस्वीकार करने के लिए या फिर खुद को उनके अनुकूल बना लेने के लिए। नतीजतन, प्रत्येक उद्देश्य का, चाहे वह कितना ही निजी क्यों न हो, एक सार्वभौमिक मूल्य भी होता है। प्रत्येक उद्देश्य चाहे वह किसी चीनी का, भारतीय का या नीग्रो का ही हो, एक यूरोपियन द्वारा समझा जा सकता है। यह कहने का, कि वह समझा जा सकता है, तात्पर्य यह है कि 1945 का एक यूरोपियन उसी प्रकार से और उन्हीं अपूर्णताओं के साथ वैसी ही परिस्थितियों से बाहर निकलने का संभवतः वैसा ही प्रयत्न कर रहा था कि वह अब किसी चीनी, हिन्दुस्तानी या अफ्रीकी के उद्देश्यों को अपने में पुनः जगा सके। प्रत्येक उद्देश्य में सार्वभौमिकता है और वह इस अर्थ में कि प्रत्येक उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति के लिए बोधगम्य है। इसका मतलब यह नहीं है कि प्रत्येक उद्देश्य मनुष्य को सदा के लिए अच्छी तरह परिभाषित कर देता है बल्कि यह कि बार-बार इस पर विचार किया जा सकता है। अगर किसी के पास पर्याप्त सूचना है तो किसी

भी मूर्ख, बालक, आदिम पुरुष या विदेशी को समझने के लिए सदैव कोई न कोई रास्ता जरूर मिल जाता है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि एक मानवीय सार्वभौमिकता है। लेकिन यह सार्वभौमिकता पूर्व प्रदत्त नहीं है, यह तो निरंतर बनती रहती है। मैं अपने आपको चुनते हुए इसकी सार्वभौमिकता का निर्माण करता हूं। दूसरे लोग चाहे वे किसी भी युग के क्यों न हो, के उद्देश्यों को समझने में भी मैं मानव सार्वभौमिकता को बनाता हूं। चुनाव प्रक्रिया की यह निरपेक्षता, प्रत्येक युग की सापेक्षता को नहीं बदलती है।

स्वतंत्र प्रतिबद्धता ही अस्तित्ववाद की आत्मा है जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति मानवता के एक रूप की अनुभूति करके अपने आपको पहचानता है। यह प्रतिबद्धता सदैव बोधगम्य होती है, चाहे वह किसी भी युग में किसी भी व्यक्ति से संबंधित क्यों न हो। और यह सांस्कृतिक पैटर्न की सापेक्षता के अनुसार आचरण करती है जो निरपेक्ष प्रतिबद्धता का परिणाम हो सकती है। प्रत्येक व्यक्ति को देकार्तवाद की सापेक्षता और देकार्तवादी प्रतिबद्धता की निरपेक्षता को समान रूप से मानना चाहिए। इस दृष्टि से आप चाहें तो यह कह सकते हैं कि हममें से प्रत्येक का सांस लेना, खाना, सोना या नाना प्रकार से व्यवहार करना उस निरपेक्ष मानव का निर्माण करता है। स्वतंत्र प्राणी—जैसे अपने आपसे प्रतिवद्ध प्राणी, जैसे अस्तित्व सत्व का चयन करता है—और निरपेक्ष प्राणी में कोई अंतर नहीं है। इसी प्रकार सार्वभौम बुद्धिगम्य प्राणी में और अस्थायी रूप से परिस्थितियों में बंधे निरपेक्ष प्राणी में अर्थात् जो इतिहास विशेष से संबंधित है, कोई अंतर नहीं होता।

आत्मपरकता का आरोप इससे पूरी तरह अस्वीकृत नहीं हो जाता। वास्तव में जो आक्षेप दूसरे रूपों में लाया जाता है, उनमें से पहला कुछ निम्न प्रकार से है। लोग हमसे कहते हैं, ''तव आप जो करते हैं, उससे कोई फर्क नहीं पड़ता।'' इस वात को वे कई प्रकार से कहते हैं। प्रथम, वे हम पर अराजकता का आरोप लगाते हैं। फिर वे कहते हैं, ''आप दूसरों पर निर्णय नहीं दे सकते क्योंकि दो उद्देश्यों में से एक को महत्व देने का कोई कारण नहीं है।'' अंत में वे यह कह सकते हैं, ''चूंकि आपके इस चुनाव में सव कुछ मात्र स्वेच्छा से होता है; अतएव आप एक हाथ से जिसे लेने का ढोंग करते हैं, उसे ही दूसरे हाथ से दे देते है।'' ये तीनों आक्षेप बहुत गंभीर नहीं हैं। सबसे पहले, यह कहना गलत होगा कि आप जो चुनते हैं उससे कोई फर्क नहीं पड़ता है। एक अर्थ में चुनाव संभव है। किंतु जो असंभव है उसको चुनना भी नहीं है। मैं सदैव चुन सकता हूं किंतु मैं जानता हूं कि जिसको मैं नहीं चुनता वह भी मेरा एक चुनाव ही है। भले ही यह हमको मात्र औपचारिक प्रतीत

होता है लेकिन कल्पना और मनमौजीपन को सीमित करने के लिए इसका अत्यधिक महत्व है। चूंकि मैं जब यथार्थ स्थिति का सामना करता हूं—उदाहरण के लिए, मुझमें यौन-भावना है और मैं यौन संबंध स्थापित कर परिवार बसाने में समर्थ हूं तो मुझे इस सबंध में अपना रवैया चुनना होगा और मैं हर हालत में इस चुनाव की जिम्मेदारी को वहन करता हूं जो केवल मुझे ही प्रतिबद्ध नहीं करता बल्कि संपूण मानवता को भी प्रतिबद्ध करता है। यद्यपि मेरा चुनाव किसी भी प्राक् मूल्य द्वारा नियत नहीं होता है तो भी मनमौजीपन से इसका कोई वास्ता नहीं है और यदि कोई यह सोचता है कि यह केवल ज़ीद सिद्धांत का एक्टे गेटविट (acte gatuit) ही है, तो वह ज़ीद के सिद्धांत व अस्तित्ववाद के बीच के बृहत अंतर को समझने में असफल रहा है। ज़ीद नहीं जानता कि परिस्थिति क्या है, उसके "कार्य" में शुद्ध मनमौजीपन होता है। ठीक इसके विपरीत, हमारी दृष्टि में मनुष्य अपने को व्यवस्थित परिस्थितियों में पाता है और वह खुद ही उसमें शामिल होता है। उसका चुनाव संपूर्ण रूप से मानव समाज को भी शामिल करता है और वह ऐसे चुनाव को टाल नहीं सकता। या तो वह अकेला रहे, या शादी करे पर बच्चे न हों, या शादी भी हो और बच्चे भी हों। किसी भी दृष्टि से, वह चाहे जो चुने, अपने उत्तरदायित्व से मुक्त होना उसके लिए असंभव है। निस्संदेह वह पूर्व स्थापित मूल्यों के संदर्भ के बिना चुनाव करता है, किंतु उस पर सनकी होने का आरोप लगाना अनुचित है। अतएव, हम यह कह सकते हैं कि चुनाव कला की रचना से तुलनीय है।

लेकिन मैं यहां यह साफ करने के लिए विषयान्तर चाहूंगा कि हम सौंदर्यपरक नैतिकता प्रस्तुत करने नहीं जा रहे हैं। क्योंकि हमारे विरोधी इतने चालाक हैं कि इसी को लेकर हम पर आरोप लगाने लगेंगे। मैं यहां कला के कार्यों का उल्लेख तुलना के लिए ही कर रहा हूं। यह समझ स्पष्ट होने पर, क्या कोई व्यक्ति उस कलाकार की कटु आलोचना करता है, जब वह पूर्व-स्थापित नियमों को ध्यान में रखे बिना चित्र का सृजन करता है? क्या कलाकार से कोई यह सवाल करता है कि वह चित्र कौन सा है जो उसे बनाना चाहिए था? जैसा कि हर कोई जानता है कि कलाकार के सामने चित्र बनाने के लिए कोई पूर्व परिभाषित तस्वीर नहीं होती। कलाकार खुद को चित्र की रचना में डूबो देता है, तब जो चित्र बनता है वह ठीक वही होता है जो बनना चाहिए था। जैसा कि सर्वविदित है, सौंदर्यपरक मूल्य पूर्व-निश्चित नहीं होते, लेकिन ऐसे मूल्य होते हैं जो सृजन की इच्छा और कर्म-निष्पादन दोनों से संबंध रखते हुए चित्र की संबद्धता में उसके बनने के दौरान सामने आते हैं। कल के चित्र का रूप कैसा होगा, इसके बारे में कोई कुछ नहीं

कह सकता। जब कि तक चित्र पूर्ण नहीं हो जाता तब तक उसके बारे में निर्णय नहीं लिया जा सकता। सवाल यह उठता है कि इसका नैतिकता से क्या संबंध है? हम भी वैसी ही सृजनात्मक स्थिति में है। किसी भी कलाकृति को हम गैर-जिम्मेदार नहीं कहते। जब हम पिकासो के बनाए एक चित्र पर चर्चा करते हैं तो हम अच्छी तरह समझते हैं कि चित्र ठीक वैसा ही बना जैसा उस समय जब वह चित्र बना रहा था। और उसकी कलाकृतियां उसके संपूर्ण जीवन का अविभाज्य अंग हैं।

नैतिक स्तर पर भी यही बात सच है। कला और नैतिकता में जो समान तत्व मौजूद है, वह यह कि इन दोनों में हमें सृजन और अन्वेषण करना होता है। हम पहले से यह निर्णय नहीं दे सकते कि क्या किया जाना चाहिए। मेरा विचार है कि यह बात उस समय आपके सामने पूरी तरह साफ कर दी गई थी जब मैंने उस छात्र के बारे में बताया था, जो मुझसे मिलने आया था। चाहे वह छात्र किसी भी नैतिक विचारधारा से अनुरोध करे, चाहे वह कांटवाद हो या कोई अन्य विचारधारा, उसे किसी से भी कोई पथ-प्रदर्शन न मिला। उसको स्वयं ही अपना रास्ता बनाना पड़ा। निश्चित रूप से, हम न तो मां के साथ रहने की उसकी इच्छा--अर्थात् भावना को, निजी भक्ति और दृढ स्वभाव को नैतिक आधार के रूप में लेने -- को गैर-जिम्मेदार कह सकते हैं और न ही यदि वह दूर इंगलैंड जाने के त्याग को बेहतर समझता है तो उसे गैर जिम्मेदार कह सकते हैं। मनुष्य स्वयं अपना स्रष्टा है। वह बना-वनाया नहीं मिलता है। वह अपनी नैतिकता के सिद्धांतो का चयन करके ही अपना निर्माण करता है और उसे कोई न कोई नैतिकता चुननी ही है क्योंकि उस पर परिस्थितियों का कुछ ऐसा ही दवाव है। हम मनुष्य को उसकी प्रतिबद्धताओं के संदर्भ में ही परिभाषित करते हैं। अतएव हमारे चुनाव के अनुत्तरदायित्व के लिए हमें दोषी ठहराना बेतुका है।

दूसरी ओर, लोग हम से कहते हैं, ''आप दूसरों के बारे में फ़ैसला करने में अक्षम हैं।'' एक दृष्टि से यह सच है और दूसरी दृष्टि से मिथ्या। सत्य इस दृष्टि से है कि जव कोई मनुष्य पूर्ण स्पष्टता और निष्कपटता से अपने उद्देश्य और उसके प्रति अपनी प्रतिबद्धता को चुनता है; तब फिर वह उद्देश्य कैसा ही क्यों न हो, उसके लिए दूसरे उद्देश्य को तरजीह देना असंभव होगा। यह इस अर्थ में भी सही है कि हम प्रगति में विश्वास नहीं करते। प्रगति सुधार में निहित है। परंतु मनुष्य सदा एक-सा रहता है, परिस्थिति-विशेष का सामना करता है जो नित्य परिवर्तनशील है। और चुनाव परिस्थिति के बीच सदैव चुनाव ही रहता है। उस समय जब लोगों के सम्मुख दासता और दासता से मुक्ति के बीच ही चुनने का विकल्प धा, से लेकर,

अमरीका के गृहयुद्ध तक और उसके बाद आज तक जब हमें लोकप्रिय जनतांत्रिक आंदोलन और कम्युनिस्टों के बीच चुनाव करना है, नैतिक समस्या नहीं बदली है।

फिर भी, जैसा मैने कहा है, हम समझ सकते हैं कि कोई भी दूसरों की दृष्टि में रखकर चुनाव करता है और दूसरों की दृष्टि से खुद अपने को चुनता है। सबसे पहले, कोई भी व्यक्ति स्वयं देख सकता है कि कुछ मामलों के अंदर उसका निर्णय --शायद यह मूल्यों के आधार पर निर्णय नहीं बल्कि तर्क के आधार पर निर्णय है-- त्रुटियों पर आधारित है, जबकि अन्य मामलों में वह सत्य है। किसी मनुष्य के बारे में कोई यह निर्णय दे सकता है कि वह अपने आपको धोखा देता है। क्योंकि हमने मनुष्य की स्थिति का इस प्रकार से वर्णन किया है कि वह एक ऐसी स्थिति है जिसमें मनुष्य बिना किसी बहाने या सहयोग के स्वतंत्र रूप से विकल्प का चयन करता है। तब कोई भी व्यक्ति जो अपने मनोवेगों या किसी नियतिवादी सिद्धांत की आड़ लेता है, आत्म-प्रवंचक है। कोई भी इस बात पर एतराज करते हुए कह सकता है, ''परंतु वह अपने आपको धोखा देने का निर्णय क्यों न ले?'' इस पर मेरा उत्तर यह है कि उसको नैतिक दृष्टिकोण से आंकना मेरे अधिकार क्षेत्र से बाहर है। लेकिन उसकी आत्म-प्रवंचना को मैं एक गलती समझता हूं। यहीं पर सत्य निर्णय देने से कोई अपने को बचा नहीं सकता। आत्म-प्रवंचना स्पष्ट रूप से एक सफेद झूठ है क्योंकि यह मनुष्य के प्रतिबद्ध होने की पूर्ण स्वतंत्रता पर आवरण डाल देता है इसी स्तर पर, मैं कहूंगा कि यह भी एक प्रकार की आत्म-प्रवंचना होगी यदि मैं यह कहने की इच्छा करूं कि मैं कुछ निश्चित मामलों में मूल्यों का दास हूं। अगर एक ओर तो मैं यह कहूं कि मैं इन मूल्यों की कामना करता हूं और दूसरी ओर यह कहूं कि ये मुझ पर थोप दिए गए हैं तो ऐसी स्थिति में यह अंतर्विरोधी होगा। यदि कोई मुझ से कहता है कि ''अगर मैं अपने आपको धोखा देना चाहूं तो?'' मैं उत्तर दूंगा, ''कोई कारण नहीं कि आप ऐसा न करें, बल्कि मैं यह कहूंगा कि आप ऐसा ही कर रहे हैं और दृढतापूर्वक सुसंगत आचरण ही शुभ आस्था है।'' इसके अतिरिक्त मैं नैतिक निर्णय दे सकता हूं। क्योंकि मैं यह कह सकता हूं कि ठोस परिस्थितियों के संबंध में स्वतंत्रता का कोई दूसरा लक्ष्य और साध्य नहीं हो सकता बल्कि स्वतंत्रता स्वतंत्रता के लिए ही है और जब एक बार व्यक्ति यह जान जाता है कि वही सभी मूल्यों का केंद्रबिंदु है तो ऐसी परित्यक्त स्थिति में वह सिर्फ एक चीज का संकल्प कर सकता है और वह है सभी मूल्यों की बुनियाद के रूप में स्वतंत्रता। इसका मतलब यह नहीं है कि वह अमूर्तता में संकल्प करता है। इसका मात्र यह अर्थ है कि शुभ आस्था-युक्त मनुष्य के कार्यों का खास महत्व स्वतंत्रता की खोज है। कोई भी मनुष्य

जो कम्युनिस्ट या क्रांतिकारी समाज का सदस्य है, मूर्त साध्यों की इच्छा करता है जो स्वतंत्रता की इच्छा में निहित है। किंतु इस स्वतंत्रता की इच्छा समाज के अंदर ही होती है। हम स्वतंत्रता की इच्छा स्वतंत्रता के लिए ही करते हैं। इस प्रकार, स्वतंत्रता की इच्छा करते हुए हम यह खोज लेते हैं कि यह स्वतंत्रता पूर्ण रूप से दूसरों की स्वतंत्रता पर और दूसरों की स्वतंत्रता हमारी स्वतंत्रता पर निर्भर करती है। स्पष्ट है कि मानव से संबंधित स्वतंत्रता दूसरों पर आधारित नहीं होती अपितु ज्यों ही मैं अपने आपको प्रतिबद्ध करता हूं, त्यों ही मेरी स्वतंत्रता के समान ही मैं, दूसरों की स्वतंत्रता के बारे में विचार करने के लिए बाध्य हो जाता हूं। मैं मुक्ति को अपना उद्‌देश्य तब तक नहीं बना सकता जब तक कि मैं दूसरों की स्वतंत्रता को भी अपना लक्ष्य नहीं बना लेता। परिणामतः जब मैं पूर्ण प्रामाणिकता के साथ यह पहचान लेता हूं कि मनुष्य ऐसा प्राणी है जो किसी भी परिस्थिति में अपनी स्वतंत्रता के अतिरिक्त कोई इच्छा नहीं करता तब साथ ही मैं यह अनुभव करता हूं कि दूसरों की स्वतंत्रता के बारे में मैं इच्छा करने से अपने को रोक नहीं सकता। अतएव, स्वतंत्रता की उस इच्छा के नाम जो स्वतंत्रता में ही निहित है, मैं उन लोगों पर निर्णय ले सकता हूं जो अपने अस्तित्व की ऐच्छिक प्रकृति और उसकी पूर्ण स्वतंत्रता को अपने आप से छुपाने का प्रयत्न करते हैं। मैं उन लोगों को कायर कहूंगा जो धर्मानुष्ठानों के आवरण में या नियतिवादी वहानों की ओट में पूर्ण स्वतंत्रता को छुपाते हैं। मानव जाति पृथ्वी पर सिर्फ संयोग से ही अवतरित हुई है, ऐसी स्थिति में जो लोग यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि उनका अस्तित्व में आना अवश्यक था -- मैं उसे नीचता कहूंगा। लेकिन न तो कायर और न ही नीच दृढ प्रामाणिकता के धरातल के अलावा कहीं पहचाने जा सकते हैं। इसलिए, हालांकि नैतिकता की अंतर्वस्तु बदलती रहती है, फिर भी, इस नैतिकता के कुछ रूप सार्वभौम होते हैं। कांट ने यह घोषणा की थी कि स्वतंत्रता एक ऐसी इच्छा है जो अपनी और दूसरों की स्वतंत्रता की इच्छा में निहित है। बिल्कुल ठीक। किंतु वह सोचता है कि नैतिकता के गठन के लिए औपचारिक और सार्वभौम होना पर्याप्त है। ठीक इसके विपरीत, हम सोचते हैं कि वे सिद्धांत जो अत्यधिक अमूर्त हैं, उस समय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं जब हम उन्हें कर्म की कसौटी पर कसते हैं। एक बार फिर छात्र के मामले पर विचार करें; किस अधिकार से, नैतिकता के कौन-से सुनहले नियम के नाम पर, आपके विचारानुसार वह शांत मन से माता को त्यागने या उसके साथ रहने के बारे में फैसला कर सकता था। निर्णय लेने के ऐसे कोई साधन नहीं है। अंतर्वस्तु हमेशा ठोस होती है और इसी कारण इसके बारे में कोई पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता। इसे तो

नित्य खोजना होता है। जो महत्वपूर्ण है, वह यह जानना है कि यह खोज स्वतंत्रता के नाम पर है या नहीं।

उदाहरण के लिए, आइए, हम इन दो मामलों पर विचार करें और तब आपको प्रतीत होगा कि ये दोनों मामले एक-दूसरे से भिन्न होने के बावजूद भी किस प्रकार से एक-दूसरे से समानता रखते हैं। 'The Mill on the Floss' को ही लीजिए। इसमें एक नवयुवती मेगी टुलीवर है जो अत्यंत भावावेग की प्रतिमूर्ति है और वह इस बात को जानती है। वह स्टीफन नामक युवक से प्रेम करती है, जो एक दूसरी साधारण युवती के प्रेमचक्र में फंसा है। यह मेगी टुलीवर अपनी खुशियों की परवाह न करते हुए मानव एकजुटता के नाम पर अपने को उत्सर्ग करना और प्रेमी को त्याग देना उचित समझती है। दूसरी ओर, स्टेंढल के Chartreuse de Parme की ला संसेवेरिना इस बात में यकीन करती है कि भावावेग मनुष्य को उसके वास्तविक स्वरूप से संपन्न करता है, जो यह घोषणा करती है कि महान भावावेग के लिए किए जाने वाले त्याग इसे न्यायोचित ठहराते हैं। अतएव भावावेग से प्रेरित प्रेम को ज्यादा महत्व दिया जाना चाहिए न कि उस तुच्छ दाम्पत्य प्रेम को जो स्टीफन को उस साधारण स्त्री से बांधता है जिसके साथ उसका शादी करने का विचार था। यह बाद की बात है कि ला संसेवेरिना अपनी खुशियों को अनुभव करने के लिए त्याग का चयन करे और जैसा स्टेंढल दिखाता है कि यदि जीवन की मांग होती तो वह भी अपने आपको भावना के स्तर पर उत्सर्ग कर देती। यहां हमारे सामने दो विरोधी नैतिकताएं हैं। परंतु यह जानकर कि दोनों ही मामलों में महत्वपूर्ण लक्ष्य स्वतंत्रता है, मैं यह कहने का दावा कर सकता हूं कि ये दोनों समान हैं। आप जीवन के प्रति दो दृष्टिकोण की कल्पना कर सकते हैं जिनका प्रभाव बिल्कुल एक समान है। पहले में तो एक लड़की निरासक्ति में अपने प्रेमी के त्यागने को अधिक तरज़ीह देती है, वहीं दूसरी अपनी काम-वासना की तृप्ति को अधिक तरज़ीह देती है और उस आदमी के पूर्व संबंध की उपेक्षा करती है जिससे वह पहले प्रेम करता था। बाहरी तौर पर ये दोनों मामले उन दोनों के जैसे लग सकते हैं जिनको हमने ऊपर उद्धृत किया है। जबकि वास्तविकता यह है कि ये अलग-अलग हैं। ला संसेवेरिना का जीवन के प्रति दृष्टिकोण बजाय लालचपूर्ण होने के मेगी टुलीवर के अधिक नजदीक है। इस प्रकार, आप देखते हैं कि दूसरा आरोप एक साथ झूठा भी है और सच्चा भी। व्यक्ति किसी भी वस्तु का चयन कर सकता है लेकिन तभी जब यह चयन स्वतंत्र प्रतिबद्धता के धरातल पर हो।

तीसरा आक्षेप यह है कि "आप एक हाथ से जो लेते हैं वही दूसरे हाथ से

दे देते हैं।'' मूलतः इसका अर्थ है—''आपके मूल्य गंभीर नहीं हैं क्योंकि आप स्वयं उनका चयन करते हैं।'' इसके लिए मैं यही कह सकता हूं कि ऐसा होना मेरे लिए दुःख का कारण होगा। यदि मैंने परमपिता परमात्मा को अपनी विचारधारा से निकाल दिया है तब अवश्य ही कोई होना चाहिए जो मूल्यों को अन्वेषित कर सके। चीजें जैसी होती हैं हमें उन्हें वैसे ही ग्रहण करना चाहिए। और जब हम यह कहते हैं कि हम मूल्यों का अन्वेषण करते हैं तो इसका कमोबेश यही अर्थ है कि जीवन-पूर्व के मूल्यों का कोई महत्व नहीं है। जीवन कुछ भी नहीं है जब तक उसे जिया न जाए, परंतु इसको अर्थपूर्ण बनाना आपका ही काम है और इसका मूल्य इसी रूप में है जिस रूप में आप इसको चुनते हैं, इसके अतिरिक्त इसका कोई मूल्य नहीं है। इसलिए आप खुद ही यह देख सकते हैं कि एक मानव समाज के निर्माण की संभावना मौजूद है। मुझपर यह सुझाने का आरोप है कि अस्तित्ववाद मानववाद का एक रूप है, लोगों ने मुझसे कहा है, ''लेकिन तुमने अपनी 'उबकाई' (Nausee') में यह लिखा है कि मानववादी गलत हैं। तुमने एक प्रकार के मानववाद की खिल्ली उड़ाई है। अब तुम दुबारा मानववाद का ढिंढोरा क्यों पीटते हो ?'' वस्तुतः मानववाद शब्द दो अलग-अलग अर्थों में प्रयुक्त होता है। एक के अनुसार, मानववाद एक ऐसा दर्शन है जो यह मानता है कि मानव ही मानव का साध्य है, वही सर्वोपरि है। मसलन, इस प्रकार का मानववाद कोक्ट्यु की कहानी ''अस्सी घंटे में विश्व भ्रमण'' में दृष्टिगोचर होता है, जिसमें उसके पात्रों में से एक घोषित करता है, ''मनुष्य महान है।'' ऐसा वह इसलिए करता है क्योंकि वह हवाई जहाज में बैठकर पहाड़ों पर उड़ रहा है। इसका अर्थ है कि यद्यपि मैंने खुद हवाई जहाज नहीं बनाया है, फिर भी मुझे उन विशिष्ट आविष्कारों के उपभोग का लाभ हासिल है और मनुष्य होने के नाते मैं व्यक्तिगत रूप से अपने आपको उन उपलब्धियों के लिए उत्तरदायी समझ सकता हूं और उनसे अपने को सम्मानित भी समझ सकता हूं, चाहे वे उपलब्धियां कुछ विशिष्ट व्यक्तियों से संबंधित ही क्यों न हो। ऐसा कहना यह मानना है कि हम कुछ मनुष्यों के महत्वपूर्ण कार्यों के आधार पर मनुष्य का मूल्य निर्धारित करते हैं। इस प्रकार का मानववाद बेतुका है क्योंकि मनुष्य के बारे में ऐसा सामान्य निर्णय लेने की स्थिति मे तो कुत्ते या घोड़े ही हो सकते हैं और वे ही घोषणा कर सकते हैं कि मनुष्य महान् है। परंतु ऐसी मूर्खता कम से कम जहां तक मैं जानता हूं आज तक उन्होंने नहीं की है। लेकिन न ही यह मान्य है कि मानव मानव पर निर्णय ले। अस्तित्ववाद इस प्रकार का कोई निर्णय नहीं देता है। अस्तित्ववादी मनुष्य को कभी भी साध्य के रूप में नहीं मानता, क्योंकि मनुष्यता को अभी निर्धारित होना

है। और हमें ऐसा विश्वास करने का कोई अधिकार नहीं है कि मानवता ऐसी चीज है जिसको अगस्त काम्टे की तरह पंथ के रूप में प्रस्तुत किया जा सके। मानवता का पंथ काम्टेवादी मानववाद में खत्म हो जाता है जो अपने आप में बंद है और यह भी कहना होगा कि यह फासीवाद का ही दूसरा रूप है। हम इस प्रकार का मानववाद नहीं चाहते।

लेकिन इस शब्द का दूसरा भी मतलब है जिसका आधारभूत अर्थ है—मनुष्य सदैव खुद अपने से बाहर होता है : मनुष्य का अस्तित्व ही इसमें निहित है कि वह अपने से बाहर होकर अपने स्व को अपने में ही तिरोहित कर लेता है। दूसरी ओर, यह एक ऐसा सिद्धांत है जिसमें अनुभवातीत लक्ष्यों को प्राप्त करते हुए मनुष्य अपने अस्तित्व को बनाता है। क्योंकि मनुष्य इस प्रकार अपने स्व से ऊपर उठ रहा है और स्व के परे से संबंधित लक्ष्य पर विचार कर सकता है, इसलिए वह उस अनुभवातीत स्थिति का केंद्र-बिंदु है। मानव सृष्टि, मानव आत्मपरकता की सृष्टि के सिवा कोई सृष्टि नहीं है। मनुष्य के संघटन के रूप में, अनुभवातीतता (इस अर्थ में नहीं कि ईश्वर अनुभवातीत है वल्कि स्व के परे होने के अर्थ में) की आत्मपरकता (इस अर्थ में नहीं कि मनुष्य अपने आप में बंद है बल्कि इस अर्थ में कि वह हमेशा मानव सृष्टि में व्याप्त है) के साथ संवंध यही है जिसे हम अस्तित्ववादी मानववाद कहते हैं। यह मानववाद है क्योंकि हम मनुष्य को यह याद दिलाते हैं कि खुद के सिवाय उसका कोई विधायक नहीं है। इस तरह सब ओर से परित्यक्त, उसे स्वयं अपने बारे में निर्णय लेना चाहिए। इस कारण से भी, क्योंकि हम बताते हैं कि मनुष्य को पुनः अपने स्व तक ही सीमित नहीं रहना है बल्कि अपने से इतर उस लक्ष्य को प्राप्त करना है जो एक प्रकार की मुक्ति है या विशेष अनुभूति है जिसको मनुष्य स्वयं एक सच्चे मानव के रूप में अनुभव कर सकता है।

इस विमर्श द्वारा आप देख सकते हैं कि जो आरोप हमारे खिलाफ लगाए गए हैं, उनसे बढ़कर कुछ अन्यायपूर्ण नहीं हो सकता। सामंजस्यपूर्ण नास्तिक दृष्टिकोण से निर्णय लेने की कोशिश करने के अलावा अस्तित्ववाद कुछ नहीं है। इसकी किंचित् भी अभिलाषा नहीं है कि यह मनुष्य को निराशा में डुबो दे। यदि लोग नैराश्य का अर्थ ईसाइयों की भांति अनास्था से लेते हैं तो अस्तित्ववादियों की निराशा कुछ भिन्न चीज है। अस्तित्ववादी इस अर्थ में नास्तिक नहीं है कि वह ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध प्रदर्शन करने में ही अपनी सारी शक्ति नष्ट कर देगा। अपितु वह घोषणा करता है कि यदि ईश्वर का अस्तित्व है भी तो अस्तित्ववाद के दृष्टिकोण में कोई फर्क नहीं आएगा। इसका यह मतलब नहीं है कि हम अस्तित्ववादी ईश्वर के अस्तित्व

में यकीन करते हैं वल्कि हम सोचते हैं कि वास्तविक समस्या उसके अस्तित्व में होने या न होने की नहीं है। मनुष्य को जिस बात की जरूरत है वह यह है कि वह अपने आपको पहचाने और यह समझे कि उसको अपने आप से कोई दूसरा नहीं बचा सकता, यहां तक कि ईश्वर के अस्तित्व का वैध प्रमाण भी नहीं। इस अर्थ में अस्तित्ववादी आशावादी है। यह कर्म का सिद्धांत है और ईसाई लोग खुद अपनी आत्म-प्रवंचना और अपने नैराश्य को हमारे से भ्रमित कर हमें निराशावादी कह सकते हैं।

सार्त्र से बातचीत

प्रश्नकर्ता

मैं यह तो नहीं जानता कि अपनी विचारधारा को समझने की आपकी यह कोशिश आपको समझने में ज्यादा उपयोगी साबित होगी या कम; किंतु मेरा अपना विचार है कि 'एक्शन' (Action) की आपकी व्याख्या के कारण लोग आपको और ज्यादा गलत समझेंगे। ''नैराश्य'' और ''व्यवहार स्वच्छंदता'' शब्द अस्तित्ववादी संदर्भ में कहीं ज्यादा अर्थवान् बनकर सामने आते हैं। और मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ''नैराश्य'' या ''मनोव्यथा'' का आपके लिए उस मनुष्य के दायित्व से कहीं अधिक आधारभूत अर्थ है जो अनुभव करता है कि वह अकेला है और जिसे खुद फैसले लेने हैं। यह मानव दुर्गति की चेतना की वह दशा है जो हर समय व्यक्त नहीं होती है। आपकी यह बात स्वीकार्य है कि व्यक्ति चुनाव करता है और किसी न किसी का चुनाव करेगा, लेकिन इसके साथ-साथ मनोव्यथा और नैराश्य व्यक्त हो आवश्यक नहीं।

सार्त्र

स्पष्ट ही मेरा मतलब यह नहीं है कि जब-जब मैं मूंगफली या चॉकलेट में से चुनाव करूं तो मेरा यह चुनाव मनोव्यथा में होगा। मनोव्यथा इस अर्थ में अपरिवर्तनीय है कि मेरा मूल चुनाव कुछ हद तक स्थिर है। वास्तव में, मेरी दृष्टि में, यह मनोव्यथा औचित्य के पूर्ण अभाव को दर्शाती है, साथ ही यह भी कि व्यक्ति सभी के प्रति जिम्मेदार भी होता है।

प्रश्नकर्ता

मैंने यह इंगित किया था कि ''एक्शन'' में आपकी जो व्याख्या प्रकाशित हुई है उसे पढ़कर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि आपका अपना दृष्टिकोण कुछ कमजोर पड़ा है।

सार्त्र

निस्संकोच यह संभव है कि ''एक्शन'' में मेरे विचार कमजोर रूप में व्यक्त हुए हों।

यह आम तौर पर होता है कि जो लोग मेरे पास आते हैं और अपने सवाल पेश करते हैं, वे अपनी बात ठीक से रखने में सक्षम नहीं होते। तब मेरे सामने दो विकल्प होते हैं—या तो मैं उत्तर देने से इन्कार कर दूं या सामान्य भाषा के स्तर पर उनसे बातचीत करना स्वीकार करूं। मैंने इस दूसरे विकल्प को ही चुना है क्योंकि आखिरकार जब कोई दर्शनशास्त्र की कक्षा में सिद्धांतों को प्रतिपादित करता है तो वह अपनी बाते समझाने के लिए विचार को कमजोर करने की सहमति तो दे ही देता है और ऐसा करना कुछ बुरा भी नहीं है। अगर कोई व्यक्ति प्रतिबद्धता के सिद्धांत में विश्वास करता है तो वह इसी दृष्टिकोण से देखने के लिए प्रतिबद्ध होगा। अगर वास्तव में अस्तित्ववादी दर्शन सबसे ऊपर एक ऐसा दर्शन है जो कहता है कि अस्तित्व सत्व से पूर्व आता है, तो इसे जिया जाना चाहिए तभी यह वास्तव में गंभीर होगा। और एक अस्तित्ववादी के रूप में जीने का अर्थ है कि इस शिक्षा के लिए कोई भी कीमत चुकाने के लिए तैयार रहना न कि इसे किताबों तक सीमित रखना। यदि वास्तव में आप चाहते हैं कि यह दर्शन एक प्रतिबद्धता है तो आपको कुछ हद तक इसे उन लोगों तक पहुंचाना चाहिए जो राजनीतिक या नैतिक स्तर पर इसके बारे में बातचीत करना चाहते हैं।

''मानवता'' शब्द का इस्तेमाल करने के लिए आप मुझ पर आक्षेप लगाते हैं। मैं ऐसा करता हूं क्योंकि खुद समस्या अपने को इसी रूप में प्रस्तुत करती है। या तो व्यक्ति सिद्धांत को दृढ़तापूर्वक दार्शनिक धरातल पर ही बनाए रखे और इसी आधार पर किसी कर्म की संभावना पर विश्वास करे या फिर यह देखकर कि लोगों की मांग कुछ और है, और चूंकि इसका अभिप्राय प्रतिबद्ध होने से है, इसलिए इसे सामान्य स्तर के लिए हामी भरनी होगी—शर्त यही है कि इस प्रक्रिया में इसे विकृत न किया जाए।

प्रश्नकर्ता

जो आपको समझने के इच्छुक हैं, वे आपको समझ लेंगे, लेकिन जो आपको समझने के इच्छुक नहीं हैं, वे आपको नहीं समझ पाएंगे।

सार्त्र

ऐसा प्रतीत होता है कि इस सभ्यता में दर्शनशास्त्र जो भूमिका निभा रहा है, उसे आप ऐसे तरीके से समझते हैं जिन्हें घटनाओं ने पुराना बना दिया है। अभी हाल तक दार्शनिकों पर सिर्फ दूसरे दार्शनिकों ने ही आक्रमण किए हैं। जनता इस बहस

मुबाहिसे को नहीं समझ पाती थी और वह इसकी परवाह भी नहीं करती थी। लेकिन अब वे दर्शनशास्त्र को बाजार तक नीचे ले आए हैं। खुद मार्क्स अपने विचार को साधारण स्तर पर लाने से नहीं रुके। ''घोषणा पत्र'' एक विचार का लोकप्रिय रूप ही है।

प्रश्नकर्ता

मार्क्स का मूल चयन तो क्रांतिकारी था।

सार्त्र

जो यह कहता है कि मार्क्स ने खुद को पहले क्रांतिकारी के रूप में चुना और दार्शनिक के रूप में बाद में या पहले दार्शनिक के रूप में चुना और क्रांतिकारी के रूप में बाद में, वास्तव में, वह वहुत चालाक व्यक्ति होगा। मार्क्स दार्शनिक और क्रांतिकारी दोनों था—और यही पूरा सच था। यह कहना कि उसने अपने को पहले क्रांतिकारी के रूप में चुना—इस कथन का अर्थ क्या है ?

प्रश्नकर्ता

''कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र'' मुझे लोकप्रिय पुस्तक नहीं मालूम पड़ती बल्कि यह तो लड़ाई का हथियार है। मैं यह यकीन नहीं कर सकता कि यह पुस्तक मार्क्स की प्रतिवद्धता का परिणाम नहीं थी।

जैसे ही मार्क्स इस नतीजे पर पहुंचे कि क्रांति अनिवार्य है, उनकी पहली कार्रवाई ''कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र'' के रूप में सामने आई, जो एक राजनीतिक कार्रवाई थी। ''कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र'' मार्क्स के दर्शन और साम्यवाद के बीच का इकरारनामा है। आप किसी तरह की नैतिकता में विश्वास क्यों न करते हों, कोई भी यह अनुभव कर सकता है कि जैसा नजदीकी तार्किक संबंध ''कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र'' और मार्क्स के दर्शन के बीच है, वैसा संबंध आपके दर्शन और नैतिकता में यहां नहीं दिखाई देता।

सार्त्र

हमारा वास्ता स्वतंत्रता की नैतिकता से है। जब तक उस नैतिकता और हमारे दर्शन के बीच कोई अंतर्विरोध नहीं है तव तक इससे ज्यादा की जरूरत भी नहीं है। एक

युग से दूसरे युग के बीच प्रतिबद्धता के रूप में फर्क तो होता ही है। एक खास युग में, जबकि प्रतिबद्ध होने का अर्थ क्रांति करना था, किसी को ''घोषणा-पत्र'' लिखना ही था। जबकि हमारे युग में, जहां कई सारे राजनीतिक दल हैं और प्रत्येक दल अपने को क्रांति का प्रचारक बताता है, प्रतिबद्धता इस बात में नहीं है कि इनमें से एक दल की सदस्यता ग्रहण की जाए बल्कि वह अवधारणा के स्पष्टीकरण की तलाश करने में है ताकि हालात का जायजा लिया जा सके और साथ ही विभिन्न क्रांतिकारी पार्टियों को प्रभावित किया जा सके।

नेविली

आपने जिस दृष्टिकोण की ओर अभी इंगित किया है, उससे निकलने वाला यह सवाल प्रत्येक को अपने आप से पूछना चाहिए : इस दौर में जो अब शुरू हो रहा है, क्या आपका सिद्धांत अपने को मूलगामी समाजवाद के पुनरुत्थान के रूप में प्रस्तुत नहीं करेगा ? यह विलक्षण प्रतीत हो सकता है, लेकिन अब यही एकमात्र तरीका है अपने सवाल को पेश करने का। प्रसंगवश, आप अपने को सभी तरह के दृष्टिकोणों पर टिका सकते हैं। किंतु अगर उस वास्तविक मुद्दे को पहचानना चाहते हैं जिस ओर ये सभी दृष्टिकोण और अस्तित्ववादी विचारधारा के पहलू अपने को अभिमुख करते हैं, तो मुझपर यही प्रभाव होगा कि यह एक प्रकार के उदारतावाद का पुनरुत्थान है। इन खास परिस्थितियों में जो हमारी मौजूदा ऐतिहासिक परिस्थितियां हैं और जो मूलगामी समाजवाद में, उदार मानववाद में अनिवार्य है उनमें आपके दर्शन को नवीन रूप प्रदान करने की जरूरत है। जो इसे विशिष्ट चरित्र प्रदान करता है, वह यह तथ्य है कि पुरातन उदारतावाद के लिए विश्व का सामाजिक संकट काफी बदल चुका है, इसने उदारतावाद को यातना और मनोव्यथा में डाल दिया है। बल्कि मुझे तो यकीन है कि कोई भी इस तरह के मूल्यांकन के लिए कई ठोस कारण पा सकता है, यहां तक कि वह अगर अपने को अपनी शर्तों तक ही सीमित क्यों न रखे। यह भी वर्तमान व्याख्या का अनुसरण करता है, जिसके अनुसार अस्तित्ववाद स्वयं को मानववाद और स्वतंत्रता के दर्शन के रूप में प्रस्तुत करता है जो मूल रूप में पूर्व प्रतिवद्धता है और जो एक उद्देश्य के रूप में अपरिभाषित है। जैसा कि दूसरे कई लोग करते हैं, आप भी मनुष्य की गरिमा को, जो व्यक्तित्व का श्रेष्ठ मूल्य है, सबसे आगे स्थान देते हैं। इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए कह सकते हैं कि ये वे खास मुद्दे हैं जो पुराने उदारतावाद से बहुत अलग नहीं है। उनको न्यायोचित ठहराने के लिए आपने ''मनुष्य की स्थिति'' के दो अर्थों में भेद किया और ऐसा ही भेद

कई ऐसे अन्य पदों के बीच भी किया जिनका प्रयोग आम बात है। लेकिन, इन पदों के महत्व के पीछे पूरा इतिहास है और उनका संदिग्ध चरित्र महज संयोग का परिणाम नहीं है। उनको बचाने के लिए आपको उनके नए अर्थों का अनुसंधान करना होगा। मैं दार्शनिक तकनीक के उन खास सवालों को जो चाहे जितने रुचिकर और महत्वपूर्ण क्यों न हो, नहीं उठाऊंगा जो इससे निकलते हैं। मैं उन बातों तक ही अपने को सीमित रखूंगा जिन्हें मैंने अभी सुना है। मानववाद के दो अर्थों के बीच आप द्वारा प्रस्तुत भेद और जो अर्थ आपने दिया है, वह भी पुराना ही है, फिर भी मैं अपने को बुनियादी मुद्दे तक ही रखूंगा।

एक चुनाव जो किया जाना है, के रूप में मनुष्य अपने को प्रस्तुत करता है। बहुत अच्छा। पहली और खास बात इस क्षण में उसका अस्तित्व है और वह स्वाभाविक नियतिवाद के बाहर स्थित है। सिवा एक व्यक्ति के रूप में उसके वर्तमान कार्यों के उसे उससे पहले की किसी भी वस्तु से परिभाषित नहीं किया जा सकता। उससे श्रेष्ठ कोई मानव प्रकृति नहीं है, परंतु एक खास प्रंदत्त क्षण में खास अस्तित्व उसे प्रदान किया गया है। मैं अपने आपसे सवाल करता हूं कि "अस्तित्व" को इस अर्थ में लेना क्या मानव प्रकृति का ही दूसरा रूप नहीं है जो ऐतिहासिक कारणों से नवीन वेश में व्यक्त हो रहा है। खास कर पहली नजर में देखने पर क्या यह अठारहवीं सदी में परिभाषित उस मानव प्रकृति से वहुत समानता नहीं रखता जिसे खुद आपके अनुसार आपने त्याग दिया है। अस्तित्ववाद में "मनुष्य की स्थिति" को जिस रूप में प्रयुक्त किया गया है उसमें काफी हद तक इस अवधारणा की पुनःअभिव्यक्ति देखी जा सकती है। मानव स्थिति की आपकी अवधारणा मानव प्रकृति का ही स्थानापन्न है, जैसा कि आपने सामान्य अनुभव या वैज्ञानिक प्रयोग को भोगे हुए अनुभव से स्थानापन्न किया है।

अगर हम X द्वारा परिभाषित स्थितियों के रूप में जो कर्ता का X है, मानव स्थितियों पर विचार करें, न कि प्राकृतिक परिवेश और न ही सकारात्मक निर्धारकों के द्वारा, तो कोई भी व्यक्ति किसी अन्य रूप में ही मानव प्रकृति पर विचार कर रहा होता है। यह एक प्रकृति–स्थिति है जिसे आप चाहें, तो यह न भी कहें कि यह प्रकृति के अमूर्त रूप में सरलता से परिभाषित की जा सकती है। यह ऐसे रूपों में हमारे सामने आती है जिन्हें ऐसे कारणों के लिए सूत्रबद्ध करना और ज्यादा मुश्किल हैं जो मेरी दृष्टि में ऐतिहासिक हैं। इन दिनों, मानव प्रकृति अपने को ऐसे सामाजिक चौखटे में व्यक्त कर रही है जिसके अंदर सामाजिक व्यवस्थाओं और सामाजिक वर्गों में सामान्य बिखराव घटित हो रहा है। इन संघर्षों में उनमें ऊपर से नीचे तक टुकड़े

होने लगते हैं और इसके प्रभाव को सभी नस्लों और राष्ट्रों में तीव्र रूप में देखा जा सकता है। एकरूप और योजनाबद्ध मानव प्रकृति की अवधारणा को अब न तो सामान्यता के उसी चरित्र के रूप में पेश किया जा सकता है, न ही सार्वभौमिकता के ठीक वैसे ही पहलू के रूप में लिया जा सकता है जो अठारहवीं सदी में थे। यह ऐसा युग है जिसे अपने आरंभिक दौर से निरंतर प्रगति के आधार पर परिभाषित किया जा सकता है। इन दिनों हमारा संबंध ऐसी मानव प्रकृति की अभिव्यक्ति से है जिसे विचारशील और सरल स्वभाव दोनों तरह के लोग मनुष्य की स्थिति पुकारते हैं। इसकी उनकी प्रस्तुति अस्पष्ट, अराजक और सामान्य रूप से जिसे नाटकीय कहा जा सकता है, होती है तथा जो हालातों द्वारा थोपी जाती है। और जहां तक वे उस स्थिति की सामान्य अभिव्यक्ति से परे नियतिवादी जांच में निहित जो प्रभावकारी स्थितियां हैं उनमें नहीं जाना चाहते तो वे मानव प्रकृति के समरूप अमूर्त अभिव्यक्ति के जो रूप और योजना हैं, उनको बनाए रखते हैं।

यह अस्तित्ववाद मनुष्य की प्रकृति के बोध पर निर्भर होता है, किंतु इस समय यह वह प्रकृति नहीं है जिसे अपने आप पर गर्व हो बल्कि यह वह है जो भयपूर्ण, अनिश्चित और हतभाग्य है। और, वास्तव में जब अस्तित्ववादी मनुष्य की स्थिति के वारे में बोलता है तो वह ऐसी स्थिति के वारे में बोल रहा होता है जिसमें कि अस्तित्ववादी अर्थ में जिसे उद्देश्य कहा जाता है, उससे वस्तुतः वह प्रतिबद्ध नहीं हुआ होता है और जो फलतः एक पूर्व-शर्त भी है। यहां हम एक पूर्व-अनुबंध तो रखते हैं परंतु न तो प्रतिबद्धता और न ही वास्तविक स्थिति को। तब यह आकस्मिक नहीं है कि इस ''मानव की स्थिति'' की परिभाषा प्राथमिक रूप में सामान्य, मानवीय चरित्र के रूप में की गई है। अतीत मे, जब कोई मानव प्रकृति के बारे में बोलता था, तो वह स्थिति के बारे में सामान्य रूप में बोलने के बनिस्बत कहीं ज्यादा सीमित चीज के बारे में सोच रहा होता था। प्रकृति के लिए—वह पहले से ही कुछ और है, एक अर्थ में स्थिति की तुलना में कुछ अधिक। मानव प्रकृति इस अर्थ में रूपात्मक नहीं है कि मानव की स्थिति रूपात्मक है। मेरे विचार में, इसी कारण से बेहतर होगा कि मानववाद की बजाए प्रकृतवाद के बारे में बात की जाए। प्रकृतवाद में निहित वास्तविकताएं मानववाद में निहित वास्तविकताओं की अपेक्षा कहीं अधिक सामान्य किस्म की होती है। कम से कम इस अर्थ में जिसमें कि आप ''मानववाद'' को लेते हैं जबकि हम खुद वास्तविकता पर विचार कर रहे हैं। जहां तक मानव का प्रश्न है, उसके बारे में विचार-विमर्श को और अधिक व्यापक बनाने की आवश्यकता है क्योंकि इसमें ऐतिहासिक दृष्टिकोण को भी अवश्य शामिल किया जाना चाहिए।

प्रकृति प्राथमिक वास्तविकता है मानव वास्तविकता जिसका केवल एक प्रकार्य है। किंतु उसके लिए, व्यक्ति को इतिहास की सत्यता स्वीकारनी होगी। लेकिन आम तौर पर अस्तित्ववादी नियमतः प्राकृतिक इतिहास की तुलना में मानव इतिहास की सत्यता को ज्यादा नहीं स्वीकारेंगे। तथापि, यह इतिहास है जो व्यक्तियों को बनाता है, क्योंकि अपने वास्तविक इतिहास के कारण ही उस क्षण से जब वे गर्भावस्था में होते हैं, न तो उनका जन्म हुआ होता है, न वे एक ऐसे संसार में जी रहे होते हैं जो उनके लिए अमूर्त स्थिति प्रदान करता है। अपने इतिहास के कारण ही वे ऐसे संसार में आते हैं जिसके वे सदैव ही अनिवार्य हिस्से होते हैं, जिसके द्वारा वे अनुकूलित होते हैं और जिसके अनुकूलन में उनका भी योगदान होता है। यहां तक कि मां अपने बच्चे को अनुकूलित करती है और बच्चा भी अपनी मां को गर्भाधान से ही अनुकूलित करता है। सिर्फ इसी दृष्टिकोण से प्राथमिक वास्तविकता के रूप में मानव की स्थिति के बारे में बोलने का हमें अधिकार है। बल्कि कोई यह कहना चाहेगा कि प्राथमिक वास्तविकता प्राकृतिक स्थिति है न कि मानव स्थिति। ये आजकल प्रस्तुत होने वाली वे आम धारणाएं हैं जिनको मैं दोहरा रहा हूं। किंतु अस्तित्ववादी तर्क जिस रूप में भी मैं उसे समझ पाया हूं, उन्हें अस्वीकार नहीं करता है। आखिरकार, यदि यह तय है कि मानव प्रकृति अमूर्त नहीं होती, न मनुष्य का सत्व उसके अस्तित्व से अलग या पूर्ववर्ती होता है तो यह भी तय है कि सामान्य रूप में कोई मानव स्थिति नहीं होती—यहां तक कि अगर आपका स्थिति से मतलब ठोस परिस्थितियों और हालातों के पुंज से ही क्यों न हो। क्योंकि आपके दृष्टिकोण के मुताबिक ये स्पष्ट नहीं कहे गए है। किसी भी हालत में, इस विषय पर मार्क्सवाद की सोच अलग है जिसके अनुसार प्रकृति मनुष्य का अंग है और मुनष्य प्रकृति का और यह जरूरी नहीं है कि इन्हें व्यक्तिगत दृष्टिकोण द्वारा परिभाषित किया जा सके।

इसका मतलब यह है कि विज्ञान से जुड़ी अन्य वस्तुओं की तरह मनुष्य के क्रियाकलापों के भी नियम हैं, और शब्दों के अपने पूर्ण अर्थ में ये ही उसकी प्रकृति का निर्माण करते है। यह सच है कि प्रकृति परिवर्तनशील है किंतु घटनाक्रिया विज्ञान से इसकी मामूली-सी समरूपता है क्योंकि प्रकृति का कोई भी बोध जो महसूस किया जाता है, अनुभूतिमूलक या जीवित होता है या ऐसा होता है जैसा सहज ज्ञान से मिलता है या दार्शनिकों के कल्पित सहज ज्ञान पर आधारित होता है। इस प्रकार समझे जाने पर कि अठारहवीं सदी के मनुष्य की मानव प्रकृति की अवधारणा निस्संदेह मार्क्स की अवधारणा के अधिक नजदीक है, बनिस्बत उसके अस्तित्ववादी विकल्प

''मानव की स्थिति'' के—जोकि उसकी परिस्थिति का शुद्ध घटनाक्रिया विज्ञान है।

दुर्भाग्य से, इन दिनों मानववाद ऐसा शब्द हो गया है जो दार्शनिक प्रवृत्तियों को पहचानने के लिए प्रयुक्त किया जाता है और वह भी सिर्फ दो अर्थों में नहीं वरन् तीन, चार, पांच या छह-छह अर्थों में। आज हम सभी मानववादी हैं, यहां तक कि कुछ मार्क्सवादी भी। वे जो अपने को क्लासिकीय विवेकवादी कहते हैं और हमारे प्रति कटु हैं, इस अर्थ में मानववादी हैं कि उनके विचार पिछली सदी के उदार विचारों से उत्पन्न हुए हैं। वह ऐसा उदारतावाद था जो वर्तमान संकट के पूरे दौर मे दिखाई देता है। यदि मार्क्सवादी मानववादी होने का दावा कर सकते हैं, तो विभिन्न धर्म, ईसाई, हिंदू और कई दूसरे भी सबसे ऊपर मानववादी होने का दावा करते हैं और वैसे ही अपनी बारी आने पर अस्तित्ववादी भी ऐसा ही करते हैं। और आम तौर पर सभी दार्शनिक मत भी ऐसा ही करते हैं। वास्तव में, बहुत से राजनीतिक आंदोलन भी दावा करते हैं कि वे मानववादी हैं। यह सब इस बात का द्योतक है कि यह एक ऐसे दर्शन को पुनःप्रतिष्ठित करने की कोशिश है जो अपने सभी दावों के बावजूद अपने अंतिम अर्थ में न केवल राजनीतिक या सामाजिक दृष्टिकोण से बल्कि गहरे दार्शनिक अर्थ में भी अपने को प्रतिबद्ध करने से इनकार करता है। जब ईसाई मत अपने को सबसे पहले मानववादी होने का दावा करता है तो इसीलिए कि वह अपने आप से प्रतिबद्ध होने से इन्कार करता है। क्योंकि वह ऐसा नहीं कर सकता अर्थात् संघर्ष के वक्त ईसाई मत प्रगतिशील ताकतों का पक्ष नहीं ले सकता, इसीलिए भी कि क्रांति का सामना होते ही वह प्रतिक्रियावादी रूख अपना लेता है। जब छद्म मार्क्सवादी या उदारतावादी सभी चीजों के ऊपर व्यक्ति के अधिकारों को रखते हैं तो इसीलिए कि वे दुनिया की मौजूदा हालात की अपेक्षाओं का सामना होने पर पीछे हट जाते हैं। इसी तरह अस्तित्ववादी भी उदारतावादियों की तरह सामन्य मनुष्य पर ही विचार करते हैं क्योंकि वे घटनाओं की मांग के अनुसार अपना रुख तय करने में सफल नहीं हो पाते। और यदि कोई ज्ञात प्रगतिशील रुख है तो वह मार्क्सवाद ही है। मार्क्सवाद ही इस युग की वास्तविक समस्याओं को व्यक्त करने में समर्थ है।

यह सच नहीं है कि मनुष्य को चुनाव की स्वतंत्रता प्राप्त है, इस अर्थ में कि उस चुनाव द्वारा वह अपनी गतिविधि को एक अर्थ प्रदान करता है जो अन्यथा उसे नहीं प्राप्त होता। यह कहना काफी नहीं है कि मनुष्य यह जाने बिना कि वह स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रहा है, स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर सकता है—या, हम यदि उस पहचान को पूर्णतम अर्थ दे भी देते हैं तो इसका अर्थ है कि मनुष्य एक ऐसे

ध्येय के लिए संघर्ष करने में लग सकता है जो उसको ही अस्वीकृत करार दे। तात्पर्य यह है कि वे ऐसे ढांचे में काम कर सकते हैं जो उनसे भी महान हैं परंतु जो महज अपने से बाहर होकर कार्य नहीं कर सकते। क्योंकि अंततः यदि एक व्यक्ति स्वतंत्रता के लिए प्रयास करता है, बिना यह जाने कि स्वतंत्रता क्या है, और बिना ठीक-ठीक यह कह पाए कि कैसे और किस लक्ष्य के लिए प्रयत्नशील है तो फिर इसका अर्थ ही क्या है ? उसके कर्मों के लगातार ऐसे परिणाम निकलने वाले हैं जो कारणता के ऐसे पूर्ण संजाल में अपने को बुना पाते हैं जिसके सभी प्रभावों को वह समझ नहीं सकता। किंतु फिर भी, दूसरों की गतिविधि के साथ दूसरे लोगों के साथ ही नहीं बल्कि ऐसे प्राकृतिक पर्यावरण में जिनमें वे लोग कर्म करते हैं—क्रियाकलाप में उसके कर्म पूरे होते हैं और एक अर्थ भी उन्हें प्राप्त होता है। लेकिन आपके दृष्टिकोण के अनुसार, चुनाव एक पूर्व चुनाव है। मैं दोबारा पहले वाले प्रसंग से शरू करता हूं, क्योंकि मैं समझता हूं कि आपने अभी भी उस पर एक शर्त थोप रखी है। इस तरह के पूर्व चुनाव में व्यक्ति पूर्व निश्चित उदासीनता के साथ स्वतंत्रता से संबद्ध होता है। लेकिन आपकी स्थिति और मनुष्य की स्वतंत्रता की अवधारणा उद्देश्य की निश्चित परिभाषा से जुड़ी है जिसके बारे में मैं कुछ कहना चाहता हूं। वस्तुतः आप के यहां उपयोगिताओं के रूप में वस्तुओं के संसार के इस विचार पर ही सब कुछ आधारित है। अनित्यता में अस्तित्वमान प्राणियों के चित्र से आप वस्तुओं के अनित्य संसार की तस्वीर वनाते हैं जिसमें कारणता नहीं है सिवाय उस अपरिचित किस्म की कारण संवद्धता के जिसकी उपयोगिता है—निष्क्रिय, अबोधगम्य और घृणित। अव्यवस्थित वाधाओं के साथ, एक-दूसरे की सेवा करने की विलक्षण इच्छा में एक-दूसरे पर उलझते-पड़ते अस्तित्ववादी मनुष्य यंत्रों के संसार में, भूले करता जाता है। लेकिन भाववादियों तथा उनकी तथाकथित शुद्ध बहिर्मुखता की दृष्टि में उन यंत्रों पर दाग लगा है और वे भयावह हैं। हालांकि नियतिवाद का यह अमली रूप कार्य-कारण से संबंध भी रखता है। क्योंकि ऐसे संसार की शुरुआत कहां से होगी और उसका अंत क्या होगा, जिस संसार की परिभाषा पूर्णतः मनमानी होगी और जिसकी आधुनिक विज्ञान के आंकड़ों के साथ किसी भी तरह सहमति नहीं होगी ? हमारे लिए इसका न तो कहीं आरंभ है और न ही कहीं अंत क्योंकि अस्तित्ववादी अपनी इस धारणा पर जो भी अलगाव थोपते हैं—प्रकृति से अलगाव बल्कि मनुष्य की स्थिति से अलगाव, यह अलगाव इसे अवास्तविक बना देता है। हमारी दृष्टि में एक और केवल एक ही संसार है और इस पूर्ण संसार को—जो मनुष्यों और वस्तुओं, दोनों ही का है—अगर आप यह भेद करना ही चाहते हैं—वस्तुपरकता

के संकेत के अधीन कुछ परिवर्तनशील परिस्थितियों में देखा जा सकता है। तारों की, क्रोध की, फूल की उपयोगिता क्या है ? मैं ऐसी चीजों के बारे में तर्क-वितर्क नहीं करूंगा; लेकिन मेरा मानना है कि आपकी स्वतंत्रता, आपका आदर्शवाद वस्तुओं की मनमानी अवमानना से निःसृत हुआ है। और फिर भी आप वस्तुओं का जो वर्णन देते हैं, वे वास्तव में उनसे काफी अलग होते हैं। आप स्वीकारते हैं कि उनका अस्तित्व उनके अधिकार में है और वहां तक यह अच्छा भी है। किंतु यह स्थायी शत्रुता के साथ नितांत निजी अस्तित्व है। आपकी दृष्टि में, भौतिक और जैविक सृष्टि कभी भी स्थिति या अनुकूलन का स्रोत नहीं रही है—वह शब्द अपने पूर्ण और व्यावहारिक अर्थ में ''कारण'' शब्द की तुलना में आपके लिए अधिक अर्थ नहीं रखता। यही कारण है कि अस्तित्ववादी मनुष्य के लिए वस्तुपरक सृष्टि उत्पीड़न का अवसर, एक दुर्गाह्य वस्तु, बुनियादी स्तर पर उदासीन, सिर्फ निरंतर रहने वाली एक संभावना से अधिक कुछ नहीं है। संक्षेप में, वस्तुपरक सृष्टि अस्तित्ववादी की नजर में मार्क्सवादी भौतिकवादी अवधारणा से बिल्कुल उलट हैं।

उपर्युक्त कारणों सहित अन्य कारणों के चलते आप दर्शन की प्रतिबद्धता को मनमाने निर्णय के रूप में देखते हैं और आप जिसकी व्याख्या स्वतंत्रता के रूप में करते हैं। आप इतिहास को विरूपित करते हैं। यहां तक कि जब आप कहते हैं कि मार्क्स ने एक दर्शन की रचना इसलिए की क्योंकि वह उससे प्रतिबद्ध था तो ऐसा कहकर आप मार्क्स को भी विकृत करते हैं। इसके विपरीत, प्रतिबद्धता या वल्कि कहना चाहिए सामाजिक और राजनीतिक कर्म उसके सोच का ज्यादा सामान्य अर्थ में निर्धारक था। यह जीवन के बहुविध अनुभव थे जिससे उनका सिद्धांत उपजा था। यह मेरे सामने बिल्कुल साफ है कि मार्क्स में दार्शनिक विचारधारा का विकास राजनीति और समाज के विकास के साथ उसके सचेत संबंध के कारण संभव हुआ था। कमोवेश यह बात पहले के सभी दार्शनिकों पर भी लागू होती है। कांट एक सुव्यवस्थित दार्शनिक है जो सभी तरह की राजनीतिक गतिविधियों से दूर रहने के लिए जाने जाते थे, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि उनके दर्शन ने कोई राजनीतिक भूमिका नहीं अदा की। हाइने कांट को जर्मन रोब्सपियरे कहते थे। उदाहरण के लिए, कोई चाहे तो इस हद तक यह स्वीकार कर सकता है कि देकार्त के युग में दर्शन के विकास ने राजनीति में कोई प्रत्यक्ष भूमिका नहीं निभाई—हालांकि ऐसा कहना भी भ्रांतिपूर्ण है—परंतु पिछली शताब्दी से तो ऐसा कहना भी संभव नहीं है। इन दिनों मार्क्सवाद की पूर्ववर्ती स्थिति को किसी भी रूप में पुनर्स्थापित करने की इच्छा को—मैं मूलगामी समाजवाद की ओर लौटना कहूंगा।

अतएव, जहां तक अस्तित्ववाद क्रांति की इच्छा को उत्पन्न कर रहा है तो उसे सबसे पहले आत्मालोचना का कार्य हाथ में लेना होगा। मैं नहीं सोचता कि वह ऐसा बहुत आनंदपूर्वक करेगा, लेकिन ऐसा करना ही होगा। वे लोग जो इसका समर्थन करते हैं, उन्हें इस आत्मालोचना से एक संकट—एक द्वंद्वात्मक संकट—को सहना होगा। अगर यह आत्मालोचना इसके कुछ समर्थकों में, कुछ अर्थों में बरकरार रहती है तो इसकी कुछ स्थितियां जो मूल्य-रहित नहीं हैं, वे भी बनी रहती हैं। यह मुझे अब और भी जरूरी लगता है क्योंकि मैंने यह महसूस किया है कि उनमें से कुछ अस्तित्ववाद को आधार बनाकर ऐसे सामाजिक निष्कर्षों के बारे में तर्क करते हैं जो सर्वाधिक बेचैन करने वाले ही नहीं बल्कि कहना चाहिए कि साफ तौर पर प्रतिगामी हैं। उनमें से एक ने अपने विश्लेषण के अंत में लिखा था कि पेटी बूर्जुआ वर्ग को एक ऐसा दर्शन प्रदान करके जो उन्हें जीने और अंतर्राष्ट्रीय क्रांतिकारी आंदोलन का हिरावल बनने में समर्थ बनाए, घटनाक्रिया विज्ञान आज महत्वपूर्ण समाज सेवा प्रदान कर सकता है। ईमानदार इरादों की इस व्याख्या के द्वारा कोई भी पेटी बूर्जुआ को उसके अस्तित्व के सदृश दर्शन प्रदान कर सकता है और तब वह उन्हें विश्व क्रांतिकारी आंदोलन का अग्रिम दस्ता बना सकता है। मैंने एक उदाहरण के रूप में इसे पेश किया है और इसी तरह के कुछ दूसरे उदाहरण भी पेश कर सकता हूं जो यह दिखाए कि कुछ लोग जो गहरे रूप से प्रतिबद्ध हैं और जो अस्तित्ववादी विषय-वस्तु की ओर गहरा झुकाव महसूस करते हैं, वे इसे राजनीतिक सिद्धांतों के रूप में प्रतिपादित करना शुरू कर रहे हैं। किंतु आखिरकार, और यहां में उस बात पर लौटना चाहता हूं जिसे मैंने आरंभ में कहा था, ये सिद्धांत नव-उदारतावाद से या नव-मूलगामी समाजवाद के रंगों से रंगे हुए हैं। यह निश्चय ही एक खतरा है। यहां हमारी प्रमुख रुचि अस्तित्ववाद द्वारा प्रभावित विभिन्न क्षेत्रों के बीच द्वंद्वात्मक सामंजस्य में किसी तरह का अन्वेषण करने में नहीं है बल्कि इन विषयों के अभिविन्यास को देखने में है। क्योंकि शायद अपने रक्षकों से अज्ञात और जांच-पड़ताल के रूप में एक सिद्धांत, एक प्रवृत्ति के रूप में अभिग्रहीत, धीरे-धीरे वे किसी खास मार्ग की ओर अवश्य बढ़ते हैं। निस्संदेह निवृत्ति मार्ग की ओर नहीं; वास्तव में, वर्तमान युग में, निवृत्ति मार्ग की बात करना एक पराजित दांव है, असंभव मार्ग है : बल्कि ऐसे मार्ग की ओर बढ़ना है जो बहुत कुछ "सतर्कतावाद"[1] से

---

1. सतर्कतावादी, जैसा कि उन्हें कहा जाता है, वे थे जो न तो जर्मन कब्जे में उनके सहयोगी रहे और न ही जिन्होंने उसका प्रतिरोध किया और (जैसाकि उनका कहना था) उस समय का इंतजार किया जब मित्र राष्ट्र हमला करेंगे और प्रतिरोध को अधिक प्रभावशाली बनाएंगे या (जैसा उनके विरोधियों का कहना था) जीतने वाले पक्ष के साथ होने का इंतजार किया।

मिलता-जुलता है। शायद, वह वैयक्तिक प्रतिबद्धता के कुछ प्रकारों के साथ असामंजस्यपूर्ण न हो; किंतु यह सामूहिक मूल्य—खासकर चिरकालिक मूल्य की प्रतिबद्धता के लिए किसी भी तरह की खोज के साथ असामंजस्यपूर्ण है। अस्तित्ववाद कोई दिशा क्यों नहीं देता ? स्वतंत्रता के नाम पर ? किंतु यदि यह दर्शन सार्त्र द्वारा बताई गई दिशा की ओर अग्रसर होता है तो इसे मार्गदर्शन अवश्य देना चाहिए। 1945 के वर्ष में इसे हमें बताना चाहिए कि हम यू.डी.एस.आर.[1] में शामिल हों या समाजवादी पार्टी में या कम्युनिस्ट पार्टी या किसी अन्य में; इसे बताना चाहिए कि यह मजदूरों का समर्थक है या निम्न पूंजीवादी वर्ग का।

सार्त्र

आपकी सभी बातों का संपूर्ण जवाब देना तो बहुत मुश्किल है क्योंकि आपने बहुत-सी बातें कही हैं। किंतु मैंने कुछ मुद्दों को नोट किया है, और उनका जवाब देने की कोशिश करूंगा। पहले, मैं यह जरूर कहूंगा कि आपने एक रूढ़िवादी दृष्टिकोण अपनाया है। आप कहते हैं कि हमने मार्क्सवाद से पहले का दृष्टिकोण अपनाया है, इस प्रकार हम पीछे की ओर बढ़ रहे हैं। मेरे विचार में आप जो प्रमाणित करना चाहते हैं, वह यह है कि हमारा दृष्टिकोण उत्तर-मार्क्सवादी नहीं है। इस बात पर मैं तर्क-वितर्क नहीं करूंगा लेकिन मैं आपसे पूछना चाहूंगा कि आप "सत्य" की अपनी इस धारणा तक कैसे पहुंचे ? आपका विचार है कि कुछ चीजें ऐसी हैं जो पूर्णतः सत्य होती हैं क्योंकि आप अपने ऐतराज निश्चयता के नाम पर ही प्रस्तुत करते हैं। लेकिन, जैसा कि आपका कहना है, यदि सभी लोग विषय हैं तो आप ऐसी निश्चयता कहां से ला पाए हैं ? आप कहते है कि मानव गरिमा के नाम पर ही मनुष्य मनुष्य को वस्तु मानने से इन्कार करता है। यह असत्य है। इसका कारण दार्शनिक और तार्किक व्यवस्था है : अगर आप वस्तुओं की सृष्टि को मान लेते हैं तो सत्य लुप्त हो जाता है। वस्तुपरक संसार संभावनाओं का संसार है। आपको स्वीकार करना चाहिए कि प्रत्येक सिद्धांत चाहे वह वैज्ञानिक हो या दार्शनिक संभावनाओं में से एक होता है। इसका प्रमाण यह है कि वैज्ञानिक और ऐतिहासिक अवधारणाओं में अंतर होता है और वे परिकल्पनाओं के रूप में ही सामने आती हैं। यदि हम स्वीकार करते हैं कि वस्तुपरक संसार जो संभावना का संसार है, एकमात्र संसार है, तो भी यह संभावनाओं के संसार से अधिक कुछ नहीं है, और ऐसी हालत

1. यूनियन डेस सोशलिस्टिस रिपब्लिकन्स

में चूंकि संभाव्यता हमारे स्वत्व पर निर्भर करती है, जिसमें कुछ सत्यता निहित होती है तब निश्चयता कहां से आती है ? हमारी आत्मपरकता हमें कुछ निश्चयात्मकता की अनुमति देती है, और इस प्रकार हम आपके साथ संभावना के धरातल पर पुनः आने में सक्षम हैं। इस तरह उस रूढ़िवादिता को जो आपने अपने विमर्श के दौरान लगातार दिखाई है, को हम सही ठहरा सकते हैं हालांकि वह आप द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण के अनुसार अबोधगम्य है। अगर आप सत्य को परिभाषित नहीं करते हैं तो आप मार्क्स के सिद्धांत को कैसे समझ सकते हैं ? तब आपके लिए यह एक ऐसा सिद्धांत होगा जो बुलबुले की तरह उभरते हैं और लुप्त हो जाते हैं, जो बदल जाते हैं और जिसका महज एक सैद्धांतिक मूल्य से अधिक कोई मूल्य नहीं रहेगा। अगर कुछ नियमों को मानकर व्यक्ति शुरू न करे तो वह इतिहास की द्वंद्वात्मकता का निमार्ण कैसे कर सकता है ? हम इन्हें देकार्तवादी *''मैं सोचता हूं''* से निगमित करते हैं : आत्मकपरकता के धरातल पर दृढ़ता से अपने को रखकर ही हम उन्हें पा सकते हैं। हमने कभी भी इस तथ्य पर विवाद नहीं किया है कि मनुष्य मनुष्य का निरंतर विषय रहा है। लेकिन परस्पर, इस विषय को जैसा वह है, उसी रूप में ग्रहण करने के लिए एक विषयी का होना जरूरी है जो विषयी के रूप में अपने को प्राप्त करता है।

तत्पश्चात्, आप मनुष्य की स्थिति के बारे में बोलते हैं जिसे कभी-कभी आप पूर्व-शर्त कहते हैं और फिर आप पूर्व-निर्धारण के बारे में बोलते हैं। यहां जो आपकी नजर में नहीं आया है वह यह कि हम मार्क्सवादी व्याख्याओं में जो है उसका बहुत अधिक समर्थन करते हैं। आप मेरी आलोचना इस तरह नहीं कर सकते जिस तरह आप अठारहवीं शताब्दी के उन लोगों की करते हैं जो सारे सवालों के प्रति अनजान थे। नियतिवाद के बारे में आपने जो कुछ हमें बताया है उसे हम बहुत लंबे अर्से से जानते हैं। हमारे लिए वास्तविक समस्या ऐसी स्थितियों को परिभाषित करना है जिनमें कि सार्वभौमिकता संभव होती है। चूंकि कोई मानव प्रकृति नहीं है, तब इतिहास के निरंतर बदलते दौर में कोई ऐसे सार्वभौमिक सिद्धांत को कैसे संरक्षित कर सकता है जो—उदाहरण के लिए स्पार्टेकस के फिनोमिना को—व्याख्यायित करने के लिए पर्याप्त हो और जोकि उस युग की न्यूनतम समझ हासिल करने के लिए आवश्यक है ? हम इस पर एकमत हैं कि मानव प्रकृति जैसी कोई वस्तु नहीं होती; दूसरे शब्दों में, प्रत्येक युग द्वंद्वात्मक नियमों के अनुसार विकसित होता है और मनुष्य अपने युग पर निर्भर करता है, न कि मानव प्रकृति पर।

नेविली

जब आप व्याख्या करना चाहते है तो आप कहते हैं, "ऐसा इसलिए है क्योंकि हम खास तरह की स्थिति से निपट रहे हैं।" जहां तक हमारी बात है, हम अपने युग से उस युग के सामाजिक जीवन में जो सादृश्यता और विभिन्नता है, उसपर विचार करते हैं। दूसरी ओर, यदि हम कुछ अमूर्त किस्म के क्रियाकलाप के रूप में खुद सादृश्यता का विश्लेषण करने की कोशिश करते हैं तो हम कभी भी कहीं नहीं पहुंच पाएंगे। यदि आप मानते हैं कि दो हजार वर्ष बाद सिवा सामान्य रूप में मनुष्य की स्थिति के बारे में कुछ अवलोकनों के, आज की परिस्थिति के विश्लेषण का कोई तरीका नहीं होगा, तब कोई कैसे ऐसा विश्लेषण कर सकता है जो अतीत-संबंधी हो ? कोई भी ऐसा नहीं कर सकता।

सार्त्र

हमने कभी भी न तो मानव स्थितियों और न ही वैयक्तिक इरादों के विश्लेषण की जरूरत पर संदेह किया है। जिसे हम परिस्थिति कहते हैं, स्पष्टतः वह संपूर्ण स्थितियां हैं न केवल भौतिक वरन् मनोविश्लेषणात्मक भी, जो विचाराधीन युग में उसे ठीक-ठीक संपूर्ण रूप में परिभाषित करती हैं।

नेविली

मुझे यकीन नहीं है कि आपकी परिभाषा आपके पाठों के अनुसार है। फिर भी, यह बिल्कुल साफ प्रतीत होता है कि आपकी परिस्थिति की अवधारणा किसी भी रूप में यहां तक कि दूर-दूर से भी किसी भी मार्क्सवादी धारणा से मेल नहीं खाती, क्योंकि यह कारणता का खंडन करती है। आपकी परिभाषा सटीक नहीं है, प्रायः यह बड़ी चतुराई से एक से दूसरे रूख की ओर पलट जाती है और दोनों में से किसी भी अवस्था को पर्याप्त और सख्त तरीके से परिभाषित नहीं करती। हमारे लिए, परिस्थिति एक पूर्णता है जो रची जाती है और जो निर्धारक घटकों की पूर्ण श्रृंखला द्वारा स्वयं को व्यक्त करती है और ये निर्धारक कारणात्मक हैं जिनमें सांख्यिकीय प्रकार की कारणता भी शामिल है।

सार्त्र

आप मुझसे सांख्यिकीय व्यवस्था की कारणता के बारे में बात कर रहे हैं। वह अर्थहीन

है। क्या आप मुझे साफ-साफ बताएंगे कि आप कारणता से क्या समझते हैं ? मैं उसी दिन से मार्क्सवादी कारणता पर विश्वास कर लूंगा जिस दिन से कोई मार्क्सवादी मुझे इसके बारे में समझा देगा। जब भी कोई स्वतंत्रता के बारे में आपसे बात करने लगता है तो आप यह कहने लगते हैं, ''माफ करना, लेकिन कारणता भी होती है।'' लेकिन इस गुप्त कारणता का जिसका हीगल के अलावा कहीं कोई अर्थ नहीं है, आप कोई ब्यौरा नहीं देते। मार्क्सवादी कारणता के बारे में आपका विचार महज दिवास्वप्न है।

नेविली

क्या आप वैज्ञानिक सत्य के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं ? ऐसे क्षेत्र हो सकते हैं जहां किसी भी प्रकार का सत्य प्रतिपाद्य नहीं है। किंतु वस्तुओं का संसार—यह तो फिर भी, मैं आशा करता हूं कि यह आप स्वीकारेंगे—ऐसा संसार है जिससे विज्ञानों का संबंध है। लेकिन आपके लिए, यह ऐसा संसार है जिसमें केवल संभावनाएं निहित हैं, जोकि सत्य के बराबर नहीं। तब, वस्तुओं के संसार, जोकि विज्ञान का भी है, में निरपेक्ष सत्य नहीं होगा। लेकिन यह सापेक्ष सत्य को प्राप्त करता है। अब क्या आप स्वीकारेंगे कि विज्ञान कारणता की अवधारणा को नियोजित करते हैं ?

सार्त्र

निश्चय ही नहीं। विज्ञान अमूर्त होते हैं; वे घटकों की विभिन्नताओं का अध्ययन करते हैं जोकि उतने ही अमूर्त होते हैं और वास्तविक कारणता उनमें नहीं होती। हम एक ऐसे धरातल पर सार्वभौमिक घटकों के बारे में दिलचस्पी रखते हैं जहां उनके संबंधों का सदैव अध्ययन किया जा सकता है : जबकि मार्क्सवाद में, व्यक्ति एकल पूर्णता के अध्ययन में ही व्यस्त होता है जिसमें वह कारणता की खोज करता है। लेकिन यह वह चीज नहीं है जिसे वैज्ञानिक कारणता कहते हैं।

नेविली

आपने एक युवक का उदाहरण दिया था जो आपके पास परामर्श के लिए आया था और आपने जिस पर विस्तार से चर्चा की थी।

सार्त्र

क्या यह स्वतंत्रता का सवाल नहीं था ?

नेविली

उसे जवाब दिया जाना चाहिए था। मैं यह पता लगाने की कोशिश करता कि उसकी क्षमताएं, उसकी उम्र, उसके वित्तीय संसाधन क्या हैं; उसकी माता के साथ उसके संबंधों को देखता। शायद मुझे संभावित मत ही प्रकट करना चाहिए था लेकिन मैं निश्चय ही एक निश्चित दृष्टिकोण तक पहुंचने का प्रयत्न करता जो भले ही क्रियान्वित किए जाने पर गलत साबित होता। पक्के तौर पर मैं उसे कुछ करने के लिए आग्रह करता।

सार्त्र

अगर वह आपके पास सलाह के लिए आता है तो इसीलिए कि उसने उत्तर चुन लिया है। व्यवहारतः, मुझे उसे कुछ सलाह दे देनी चाहिए थी लेकिन क्योंकि उसे स्वतंत्रता की तलाश थी, इसलिए मैंने चाहा कि वह खुद निर्णय ले। इसके अलावा, मैं जानता था कि वह क्या करने जा रहा है और उसने वैसा ही किया।

अनुक्रमाणिका

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

•••

ज्यां पॉल सार्त्र : बीसवीं सदी के सर्वाधिक चर्चित विचारकों और लेखकों में से एक, सार्त्र का जन्म 1905 में पेरिस में हुआ। 1934 में सार्त्र ने बर्लिन में फ्रेंच इंस्टीट्यूट में एक वर्ष रहकर जर्मन दर्शन का गहन अध्ययन किया। उन्होंने कई वर्ष अध्यापन कार्य भी किया। दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान सार्त्र जर्मनी के फासीवादी हमलावरों की कैद में रहे और छूटने के बाद उन्होंने प्रतिरोध आंदोलन में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। इसके बाद अध्यापन कार्य छोड़कर वे पूरी तरह से लेखन-कार्य में जुट गये। यद्यपि समय-समय पर उन्होंने जनता की मुक्ति के समर्थन में राजनीतिक कार्रवाइयों में भाग लिया। उन्होंने प्रसिद्ध फ्रांसीसी पत्रिका 'लेस टेंप्स मॉडर्नेस' का संपादन भी किया।

सार्त्र को अस्तित्वादी दार्शनिक के रूप में जाना जाता है और इस दृष्टि से उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। लेकिन अंततः उन्होंने अपने को मार्क्सवादी घोषित किया। उनका विचार था कि अस्तित्वाद और कुछ नहीं मार्क्सवाद का ही अंतःक्षेत्र है, मार्क्सवाद जो हमारे समय की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विचारधारा है।

सार्त्र सिर्फ विचारक ही नहीं थे बल्कि इस सदी के महान् साहित्यकारों में से एक थे। उनके उपन्यासों और नाटकों ने फ्रांस के बाहर भी व्यापक लोकप्रियता अर्जित की। 'नाउसिया' (उबकाई) उनका सबसे प्रसिद्ध उपन्यास है। इसके अलावा 'द एज ऑफ रिज़न', 'द रिप्राइव', 'आइरन इन द सॉल' उपन्यास, 'लेस माउचेस', 'लेस मेन्स सेल्स', 'नेक्रासोव' आदि नाटक भी काफी लोकप्रिय हुए। उनकी दार्शनिक कृतियों में 'बीइंग एंड नथिंगनेस' को खास स्थान हासिल है। 'द वर्ड्स' नाम से उन्होंने अपने बचपन की स्मृतियों को प्रस्तुत किया है।

सार्त्र को उनके महान् साहित्यिक अवदान के लिए नोबल पुरस्कार के लिए चुना गया था, लेकिन उसे लेने से उन्होंने इनकार कर दिया था। 75 वर्ष की आयु में 1980 में उनका निधन हो गया।

जबरीमल्ल पारख : जन्म 1952, जोधपुर। शिक्षा : बी.ए. (ऑनर्स) और एम.ए. जोधपुर विश्वविद्यालय से। पी-एच.डी. जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से। व्यवसाय: अध्यापन। : 1975 से 1987 तक रुहेलखंड विश्वविद्यालय से संबद्ध एक स्नातकोत्तर महाविद्यालय में। 1987 से इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय में।

1977 से साहित्य, संस्कृति और मीडिया पर पत्र-पत्रिकाओं में नियमित लेखन।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के लिए साहित्य संबंधी वीडियो कार्यक्रमों के लिए पटकथा लेखन। दूरदर्शन और अन्य संस्थाओं के लिए भी पटकथा लेखन। इं. गां.रा.मु.वि. के हिंदी वीडियो कार्यक्रम 'पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश' के लिए यू.जी.सी.-सी.ई.सी. द्वारा विषय-विशेषज्ञता के लिए पुरस्कृत (1995)।

प्रकाशित पुस्तकें : नयी कविता का वैचारिक परिप्रेक्ष्य (1991), संस्कृति और समीक्षा के सवाल (1995), जन संचार माध्यमों का सामाजिक परिचय (1996)।

ISBN : 978-81-7714-539-7

मूल्य : 100 रुपये